भक्त-माल

मनः प्रत्यक्चित्ते सविध मवधाया त्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः ।
यदालोक्या ह्लादं ह्रद इव निमज्ज्या मृतमये
दधत्यन्तस्तत्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥ १० ॥

॥ ओं नमः शिवाय ॥

शिव-भक्त-माल ।

परिवर्द्धित संस्करण ।

लेखक तथा प्रकाशक—
गौरीशङ्कर गनेड़ीवाला,
गोरखपुर ।

संशोधक—
पं० रामतेज पाण्डेय 'साहित्य-शास्त्री' ।

द्वितीय बार ५००० प्रति | गंगा दशहरा संवत् १९८८ वि० | मूल्य
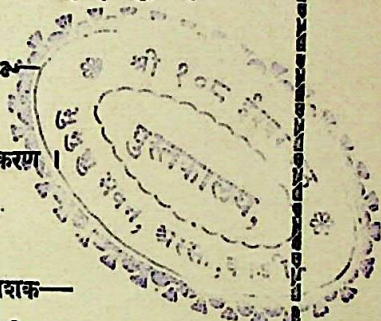
प्रकाशक—
गौरीशंकर गनेड़ीवाला,
गोरखपुर ।

मुद्रक—
सहादुरराम,
हितैषी प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस ।

सेठ रामचन्द्र जी गनेड़ीवाला, मुकुन्दगढ़ (जयपुर)

[जन्म सं० १९१९, काशीवास ज्येष्ठ कृष्ण
१२ रविवार सम्वत् १९७७ वि०]
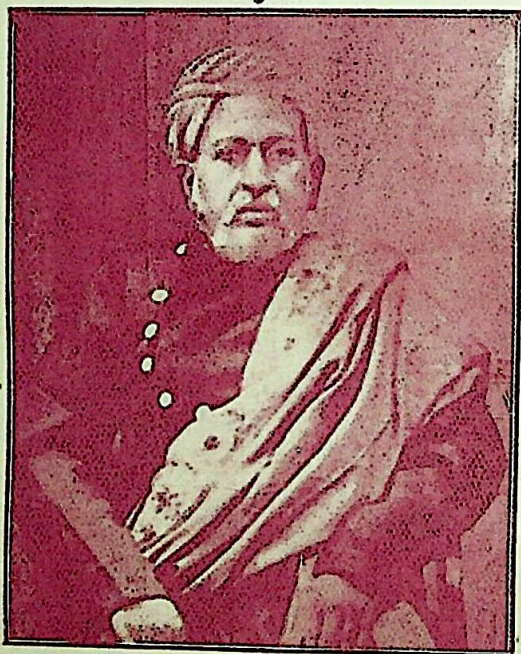
प्रभुको भक्त रत्न की माला, भक्ति युक्त पहना दीजे ।
कृपासिन्धु की दया दृष्टि पितु ! मेरी ओर करा दीजे ॥
होवे प्रेम उमा महेश में, यह वरदान दिला दीजे ।
अपने गौरीशंकर का कर, शंकर--हाथ धरा दीजे ॥

गौरीशंकर ।

समर्पण

पूज्य पिताजी !

आपके जीवनकाल में मैं आपकी कुछ भी सेवा न कर सका, इसका मुझे परम पश्चात्ताप है। मैं बहुत दिनों से उसी अपराध के परिमार्जन के लिए सोच रहा था कि कौन सी सेवा आपको अधिक प्रसन्न कर सकेगी। इस दास को आपकी वह शिवभक्ति अभी तक यथावत् स्मरण है। जब मैं बालक था, तब आपकी उस पार्थिव–पूजा को बड़े ध्यान से देखा करता था। आपका भगवान् शिवजी में बड़ा प्रेम था। इसलिये अन्तमें यही निश्चय हुआ कि आप ऐसे शिवभक्त को "शिव-भक्त-माल" समर्पण करना सब से अधिक प्रिय-कर होगा। हे वत्सवत्सल ! मैं यह भक्त-माल आपको समर्पण कर रहा हूँ। आशा है कि आप इसे स्वीकार कर अनुगृहीत करेंगे।

आपका प्रेमास्पद आत्मज–

गौरीशंकर।

नम्र निवेदन

आजसे बीस वर्ष पहले पूज्यपाद पण्डितप्रवर श्रीरामलालजी शास्त्री ने मुझे एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित करने का उत्साह दिलाया। जिसमें प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के मुख्य-मुख्य शिव-भक्तों की कथायें संगृहीत हों, और उसका नाम "शिव-भक्त-माल" रखा जाय। उक्त पण्डितजी स्वयं बड़े शिव-भक्त हैं और सदा सत्कार्य में ही अपने जीवन का अधिक समय व्यतीत करते हैं। आपने गोंडा में "विद्वत्परिषत्-साङ्गवेद-विद्यालय ऋषिकुल" स्थापित किया है। इसमें बीसों वर्ष से आदर्श शिक्षा दी जा रही है और यहाँ शिक्षा पाये हुए विद्वान् इस समय संसार में विख्यात हो रहे हैं।

ऐसे महापुरुष का दिलाया हुआ उत्साह कभी व्यर्थ नहीं हो सकता था। वह उत्साह धीरे धीरे पुष्ट होता गया और उस को पूज्य-चरण श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १०८ घनश्यामानन्दजी तीर्थ महाराज की आज्ञा ने सजीव एवं सफल कर दिया। उक्त महाराज का जीवन आदि से अन्त तक आदर्श जीवन है। चारों आश्रमों के नियमों का आपने पालन किया है। इस समय आप संन्यास आश्रम में हैं और अपने सदाचारों एवं सदुपदेशों से संसार-सागर में डूबते हुए जीवों का उद्धार कर रहे हैं। आपकी स्तुति में बनाया गया यह श्लोक आपकी आधुनिक स्थिति का अच्छा परिचय देता है:—

नित्यं ब्रह्मविचारणाप्रवणधीः संयुक्त-सांसारिक-
व्यापारोऽखिलशास्त्रपाठनपरः प्रज्ञावतामग्रणीः ।
यस्याखण्डतपः प्रभावविगतक्रोधादिवैरिव्रजः
सौधौप्याश्रमवद्विभाति स 'घनश्यामो' यती राजते ॥

आपकी आज्ञा पाकर मैंने भिन्न-भिन्न पुराणों से शिव-भक्तों की कथायें एकत्र कीं और काशीनिवासी कविभूषण, कविरत्न, पं० अम्बिकादत्त, उपाध्यायजी एम्० ए०, सांख्ययोग-शास्त्री, काव्यतीर्थ से प्रार्थना की कि वे इन सब कथाओं को अपने संशोधन द्वारा सुन्दर एवं मनोहर रूप देकर इस "शिव-भक्त-माल" नामक ग्रन्थ का सम्पादन करें। आपने बड़े परिश्रम और श्रद्धा से यह कार्य किया।

प्रस्तुत पुस्तक उसी भक्तमाल का पूर्वार्द्ध आपके सामने उपस्थित है। इसमें भी शिवजी की आराधना करके ऐहलौकिक एवं पारलौकिक उत्तम फलों को पाकर कृतकृत्य होनेवाले देवता, दैत्य, देवी, देवर्षि और ब्रह्मर्षियों की मनोहर कथाओं का संग्रह किया गया है। कहीं कहीं ललित और शुभ फल देनेवाले स्तोत्र भी दे दिये गये हैं। जिनके पाठ करने से अनन्त फल मिलता है।

आशा है कि यह ग्रन्थ शिव-भक्तों को प्रिय एवं हितकर होगा। आप लोग यदि भक्तिपूर्वक इसका पाठ करेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

निवेदक—

गोरखपुर माघी पूर्णिमा सं० १९८७

शिवभक्तों का तुच्छ सेवक,
गौरीशङ्कर गनेड़ीवाला

❀ श्रीः ❀

प्रस्तावना

परमात्मा और जीवात्मा ये दोनों सच्चिदानन्दमय हैं। दोनों में सत्, चित् और आनन्द विद्यमान है, भेद केवल इतना ही है कि परमात्मा के सत् आदि निर्मल, अपरिच्छिन्न और अनियन्त्रित हैं और जीवात्मा के मलिन, परिच्छिन्न एवं नियन्त्रित हैं। इसी कारण जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं। अंश जब अंशी में मिल जाता है, तब उसकी पूर्णता समझी जाती है; इसी कारण जब जीवात्मा परमात्मा में मिल जाता, तब वह पूर्ण हो जाता है। अर्थात् वह परमात्मा ही हो जाता है, इसी को दूसरे शब्दों में 'मोक्ष' कहते हैं। अतः परमात्मा की प्राप्ति ही जीवात्मा का प्रधान लक्ष्य है। शास्त्रकारों ने परमात्मा की प्राप्ति के लिये अनेक साधन बताये हैं–पर उनमें से तीन साधन सर्वोत्तम हैं, कर्म, ज्ञान और भक्ति। 'कर्म' शब्द की उत्पत्ति 'कृ' धातु से है, उसका अर्थ–करना, व्यापार आदि होता है। किसी भी धर्म को लीजिये सबमें अभीष्ट–सिद्धि के लिये कुछ न कुछ काम करने को कहा है, विना काम किये कुछ नहीं होता। बुरे काम करने से बुरा फल और अच्छा काम करने से अच्छा फल मिलता है। यहाँ तक कि परमात्मा की प्राप्तिं भी काम से ही हो सकती है। मीमांसा–शास्त्र ने कर्म ही को प्रधान माना है। ये कर्म श्रौत-स्मार्त

आदि भेद से कई प्रकार के हैं। यज्ञ, योग आदि वैदिक कर्म 'श्रौतकर्म' कहे जाते हैं और मनुस्मृति आदि में वर्णित वर्णाश्रम-भेदानुसार अन्य आवश्यक कर्म 'स्मार्त-कर्म' कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त व्रत, उपवास आदि धार्मिक कर्म कहे जाते हैं।

इन सब कर्मों से दुःख का नाश और सुख की प्राप्ति होती है; परंतु ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःखों का नाश नहीं होता। इससे बहुत जन्मों में सिद्धि प्राप्त होती है। अतः कर्म को विद्वानों ने उत्तम साधन नहीं समझा है। दूसरा साधन ज्ञान है, इसकी उत्पत्ति 'ज्ञा' धातु है, जिसका अर्थ 'जानना' है। उस परमात्मा के असली रूप को जान लेना ही ज्ञान है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह परब्रह्म तुम्हीं हो, तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा परमात्मा नहीं है। अपने रूप को जान लेना ही परमात्मा की प्राप्ति है। इस ज्ञान से सब कर्म उसी प्रकार जल जाते हैं। जिस प्रकार अग्नि से लकड़ी जल जाती है। उनसे फलों की उत्पत्ति कदापि नहीं होती। अतः ज्ञानी पुरुषों को कर्मों का लेप नहीं होता। जिस तरह कमल-पत्र जल में रहता हुआ भी जल से अलिप्त रहता है, उसी तरह ज्ञानी पुरुष कर्म करता हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता इसी कारण वह प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त कर परमात्मा में लीन हो जाता है। इसीका नाम 'मुक्ति' है।

परन्तु यह साधन आसान नहीं; वरन् इसको प्राप्त करना बहुत कठिन है। बड़े-बड़े योगी इसके पीछे पड़े रहते हैं; पर इसकी प्राप्ति नहीं होती। जिसे शीत-उष्ण का भेद प्रतीत न हो, मान अपमान को जो बराबर समझे, जिसने सब इन्द्रियाँ वश में कर ली हों, जो पत्थर को सुवर्ण

के बराबर समझता हो और जिसे सांसारिक वासनायें न सताती हों, ऐसे सचमुच परमहंस को ही ज्ञान प्राप्त होता है।

इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये अनेक जन्मों के संस्कार की आवश्यकता होती है। इसी कारण विद्वान् लोग इसे दुर्गम कहते हैं और यह है भी ऐसा ही।

इसीके लिये दूरदर्शियों ने भक्ति को सबसे उत्तम और सरल साधन बताया है। 'भक्ति' शब्द 'भज' धातु से 'ति' प्रत्यय करने पर बनता है। 'भज' का अर्थ है सेवा और 'ति' का अर्थ है भाव। इस प्रकार इस शब्द में तीन अर्थ भरे हैं। अतएव सेवा-सम्बन्धी, आत्म-सम्बन्धी और ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञानसहित प्रेम होने के लिये जो विविध प्रकार की सेवा या कृति है, उसे 'भक्ति' कहते हैं। यद्यपि भक्ति से प्रेरित होकर की जानेवाली कृतियाँ क्रिया ही हैं; तथापि उसमें प्रेम के फल का उद्देश्य मुख्य रहता है। इसलिये वे क्रिया के नाम से व्यवहृत न होकर भक्ति के नाम से व्यवहृत होती हैं। इस भक्ति के प्रधानतः नौ भेद बतलाये गये हैं—

(१) श्रवणः—ईश्वर की लीला, कथा, महत्ता, शक्ति आदि को परम श्रद्धासमेत अतृप्त मन से निरन्तर सुनना।

(२) कीर्त्तनः—ईश्वर के गुण, चरित्र, नाम, पराक्रम आदि का आनन्दपूर्वक बड़े उत्साह के साथ कीर्तन करना।

(३) स्मरणः—निरन्तर अनन्य भाव से परमेश्वर का स्मरण करना, उनके माहात्म्य और शक्ति का स्मरण कर उसपर मनोमुग्ध होना।

(४) पादसेवनः—ईश्वर के चरणों का आश्रय लेना और उन्हीं को अपना आधार समझना।

(५) अर्चनः—मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र सामग्री से भगवान् के चरणों का पूजन करना ।

(६) वन्दनाः—भगवान् की मूर्त्ति को अथवा भगवान् के अंश से व्याप्त भक्तजन, आचार्य, ब्राह्मण, गुरुजन, माता, पिता आदि को परम आदर-सत्कार के साथ पवित्र भाव से नमस्कार करना और उनकी सेवा करना ।

(७) दास्यः—ईश्वर को स्वामी और अपने को दास समझकर, परम श्रद्धा के साथ सेवा करना ।

(८) सख्यः—ईश्वर को ही अपना परम सखा समझ कर अपना सर्वस्व उसे समर्पण कर देना तथा सच्चे भाव से अपने पाप-पुण्य का निवेदन करना ।

(९) आत्मनिवेदन—अपने आपको भगवच्चरण में सर्वथा सर्वदा के लिये समर्पण कर देना और कुछ भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखना । यह उच्चतम अवस्था है अथवा यों कहना चाहिये कि यह भक्ति की अन्तिम सीढ़ी है । इस पर आरूढ़ होते ही भगवत्प्राप्ति का द्वार निर्बाध खुला हुआ मिलता है ।

भक्ति के इन नौ प्रकारों में से पहले के तीन—श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण ईश्वर के नाम से सम्बद्ध हैं । अर्चन, वन्दन और पादसेवन ईश्वर के रूप से समवेत हैं और दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन भगवान् के भाव से सम्बद्ध हैं । ये सब ईश्वर के नाम, रूप और भाव से ही सम्बद्ध हैं । इन मार्गों पर आरूढ़ भक्त के लिये भगवान् प्रत्यक्ष हैं । प्रत्येक भक्त इन सभी मार्गों का पथिक रहता है; पर भिन्न-भिन्न भक्तों में भिन्न-

भिन्न अंगों की अधिकता पायी जाती है। कोई किसी अंग की ओर अधिक प्रवृत्त होता है और कोई किसीकी ओर। यह प्रवृत्ति ऐच्छिक नहीं होती; किन्तु स्वाभाविक होती है।

इस नवधा भक्ति से मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है। भगवान् कृष्णजी ने कहा है कि माया के बन्धन से मुक्ति पाने के लिये भक्ति ही एकमात्र उपाय है। भक्ति परम शान्ति और परमानन्दस्वरूपा है, इसके साधन ही में शान्ति और आनन्द मिलता है। सत्य तथा सुख की प्राप्ति के लिये संसार में इससे उत्तम कोई साधन ही नहीं है। ईश्वर का इसमें आश्रय रहता है और ईश्वर को इसकी चिन्ता रहती है। अतः किसी प्रकार पतन का भय भी नहीं रहता। अतएव भक्ति को सब साधनों में उत्तम स्थान दिया गया है। भक्त लोग थोड़े में ही बाजी मार लेते हैं; परन्तु इसके लिये सच्चा भक्त होना चाहिये। सच्चा भक्त वह है, जो परमेश्वर में सच्चे हृदय से मन लगाकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करता हुआ भी सम्पूर्ण चराचर जगत् को ईश्वर की माया समझता हुआ किसी भी वस्तु में राग-द्वेष न रखे और ईश्वर-भजन में लीन होकर तृष्णा, कामना आदि के वशीभूत न होवे।

सच्चा भक्त ईश्वर में मन लगाकर, इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोग करता हुआ भी सम्पूर्ण चराचर जगत् को उसी सर्वशक्तिमान् भगवान् की माया समझता है और किसी से राग-द्वेष नहीं रखता। वह, काम,क्रोध, लोभ, मोह आदि के वश में वह नहीं होता। उसे केवलईश्वर का भरोसा रहता है। जन्म-कर्म, वर्ण-आश्रम आदि की उच्चता का उसे लेशमात्र अहंकार नहीं होता। सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों को वह समान दृष्टि से

देखता है। त्रैलोक्य का राज्य मिलने पर भी एक क्षण के लिये वह भगवच्चरण का परित्याग नहीं करना चाहता। ऐसे भक्त को विना प्रयास ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

कर्म तथा ज्ञान के लिये तो वड़े-वड़े नियम और वन्धन हैं; परन्तु भक्ति का द्वार सब के लिये खुला है। उसमें किसीके लिये रुकावट नहीं है। पापात्मा हो चाहे पुण्यात्मा, नर हो चाहे नारी, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, बालक हो अथवा वृद्ध, सभी भक्ति का अवलम्बन कर, परम पद को पा सकते हैं। यह सुलभ भक्ति ईश्वर में अनुरक्ति अनुराग अर्थात् पूर्ण प्रेम ही परा भक्ति है।

(सा पराऽनुरक्तिः ईश्वरे)

भक्तिदर्शन।

हृदय के मल को दूर करने के लिये सबसे सरल उपाय भगवद्भक्तों की श्रद्धापूर्वक चर्चा करना है। उनके चरित्र-चिन्तन से मानसिक दुर्विकार दूर हो जाते हैं और भगवान् आशुतोष में मनोवृत्ति की एकाकारता हो जाती है। पतञ्जलि भगवान् ने योगदर्शन में कहा है—"वीतरागविषयं वा चित्तम्" अर्थात् शुकदेव, दत्तात्रेय, सनक आदि परम भागवत विरक्त योगिराजों का चिन्तन करने से ही चित्त की एकाग्रता होती है। ऐसे भक्त साक्षात् ईश्वररूप हो जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने तो यहाँ तक कहा है—" राम ते अधिक रामकर दासा "। अतः भक्तजनों की भक्ति करने से भी परम उपकार होता है।

शिव-भक्त-माल के पूर्वार्ध की विषयानुक्रमणिका।

देवखण्ड

देवीखण्ड

यक्षखण्ड

दैत्यखण्ड

देवर्षिखण्ड

---

* चिन्ह वाले रत्न द्वादश ज्योतिर्लिंग में आगए हैं।
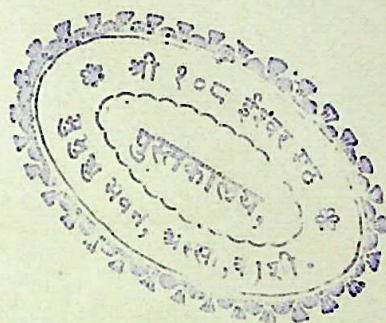
परिव्राजकाचार्य्य श्री १०८ घनश्यामानन्दजी तीर्थ महाराज, मुमुक्षु भवन, काशी।
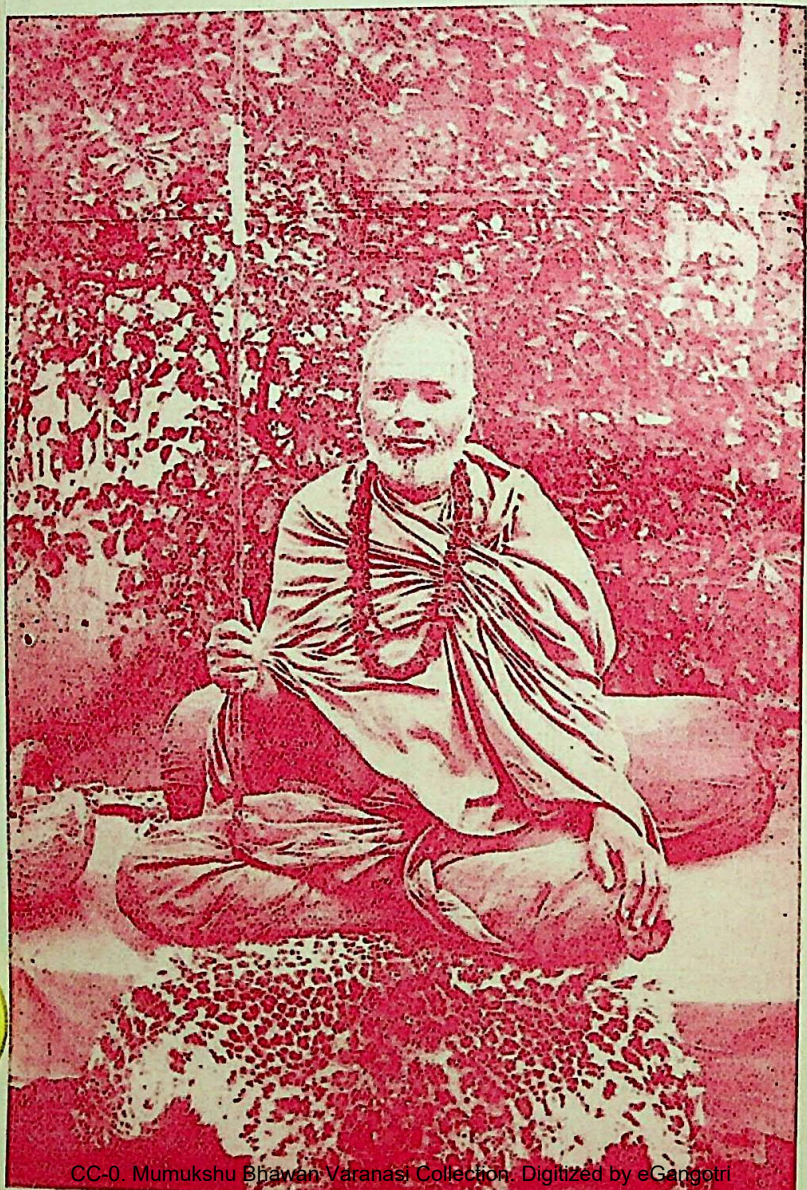
॥ श्रीगणेशाय नमः ॥
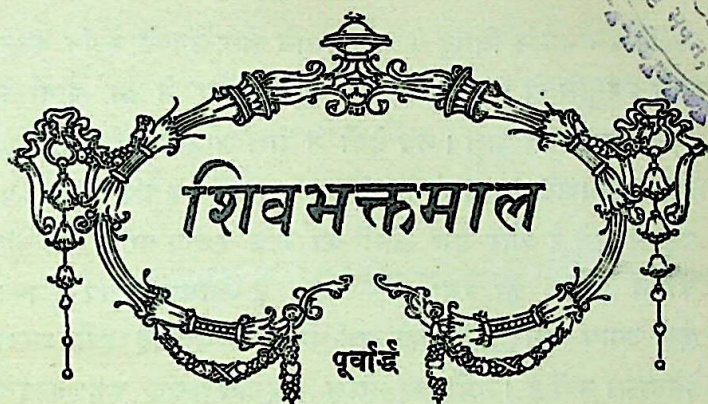
देवखण्ड ।

दुर्वास-कौशिक-विरिञ्चि-मृकण्डुपुत्रान् देवेन्द्र-वाण-हरि-शक्ति-दधीचि-रामान्।
कण्वादि–भार्गव–बृहस्पति–गौतमादी–नेतानहम्परमपाशुपतान्नमामि॥ १ ॥

पहिला रत्न

परम शैव भगवान् विष्णुदेव ।

समय के परिवर्तन से कभी तो देवता बलवान् हो जाते हैं और कभी दानव। एक बार दानवों की शक्ति बहुत अधिक हो गयी और वे देवों को बहुत अधिक कष्ट पहुँचाने लगे। देवता बहुत संत्रस्त और संतप्त हुए। इसलिये अपने दुःखों की निवृत्ति

के लिये भगवान् विष्णु के समीप गये और उनकी स्तुति करने लगे । स्तुति से प्रसन्न होकर विष्णु भगवान् ने उन लोगों के आने का कारण पूछा । तब देवों ने हाथ जोड़कर विनती की कि हे महाराज ! हम लोगों को दुष्ट दानव लोग अपरिमित कष्ट पहुँचा रहे हैं और हम लोगों का एक स्थान पर रहना भी कठिन प्रतीत हो रहा है । अतः हे भगवन् ! आप इसका कुछ उपाय बताइये, आपके अतिरिक्त अन्य कोई हमें शरण देनेवाला नहीं है । देवों का ऐसा हृदयविदारक करुणक्रन्दन सुनकर विष्णु भगवान् ने उनसे कहा कि मैं परम कारुणिक श्रीमहादेवजी की आराधना कर इस कार्य को करूँगा । उनके ऐसे वचन सुनकर सब देवता अपने-अपने धाम को चले गये । इधर श्रीविष्णुदेव क्षीरसागर का सुखद शयन छोड़, कैलास पर्वत के समीप पहुँचे और वहाँ अग्नि का कुण्ड बनाकर और हरीश्वर नामक ज्योतिर्लिंग की स्थापना कर देवदेव भगवान् महादेव की आराधना मानसरोवर-समुत्पन्न कमलों से विधि-पूर्वक करने लगे । इनका नियम था कि श्रीशिवसहस्रनाम का पाठ करते जाते और प्रत्येक नाम पर एक-एक कमल शिवजी को चढ़ाते जाते थे । इस प्रकार प्रतिदिन एक सहस्र कमलों से महादेव की पूजा करते थे । ऐसी आराधना करते २ जब बहुत समय व्यतीत हो गया । तब एक दिन महादेवजी ने भक्ति की परीक्षा करने के लिये उन हजार पुष्पों में से एक पुष्प अपनी लीला से कम कर दिया । सहस्र-नाम समाप्त करते-करते जब

अन्तिम नाम आया तो एक कमल कम देख, विष्णु बड़े चिन्तित हुए और कहीं से कमल का आगम न देख झट अपना नेत्र-रूपी कमल शिवजी के चरणों में भक्तिपूर्वक समर्पण कर दिया। पुष्पदन्ताचार्य (१) ने शिवमहिम्न स्तोत्र में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधायपदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम्।

(म० स्तो० १९)

इस अटल भक्ति को देख आशुतोष भगवान् शंकर परम प्रसन्न हुए और उसी समय प्रकट होकर प्रसन्न वदन से बोले कि हे विष्णो! मैं आपकी भक्ति और प्रेम से परम सन्तुष्ट हूं। आप मनोवाञ्छित वर मांगिये, आपके लिये कुछ भी अदेय नहीं। भगवान् का ऐसा वचन सुनकर विष्णुदेव ने हाथजोड़ इस प्रकार प्रार्थना की कि हे महाराज! इस समय दैत्य बहुत प्रबल हो गये हैं और इतना उपद्रव कर रहे हैं कि देवताओं का रहना कठिन हो रहा है। सम्पूर्ण त्रैलोक्य इस समय उनसे पीड़ित है। विष्णु के ऐसे करुणाजनक वचन सुन भगवान् शिवजी ने तेजोमय सुदर्शन चक्र दिया और कहा कि इससे

(१) उत्तरार्द्ध का भक्त खण्ड देखिये।

सब दैत्यों का विनाश हो जायगा । यह कहकर वे अन्तर्धान हो गये ।

विष्णु भगवान् ने उसी चक्र की सहायता से असुरों का विना परिश्रम बहुत शीघ्र विनाश कर डाला और तीनों लोकों में आनन्द की भेरी बजने लगी । उस चक्र को विष्णु भगवान् अभी तक बहुत आदरपूर्वक धारण किये रहते हैं और जब-जब शत्रुओं का संहार करना होता है तब २ उसे काम में लाते हैं ।

तत्प्राप्य भगवान्विष्णोर्दैत्यांस्तान् बलवत्तरान् ।
जघान तेन चक्रेण द्रुतं सर्वान्विना श्रमम् ॥३१॥
जगत्स्वास्थ्यं परं लेभे बभूवुस्सुखिनस्सुराः ।
सुप्रीतः स्वायुधं प्राप्य हरिरासीन्महा सुखी ॥३२॥
(शि० पु० चतुर्थ को० रु० सं० अ० ३४)

॥ भैरवी ॥

शिवके समान दूजो देत कौन दान है ॥टेक॥ हरिको सुदर्शन दीनो मानो कोटि भानु है। आपतौ दिगंबर जाके नंदीसो विमान है ॥ ब्रह्मरूप जानि जाको वेद करैं गान है । सोई गौरीश तीनों लोकमें प्रधान है ॥ कालकूट देखि के सुरासुर मुरझान है । आय के महेश स्वामी कियो विषपान है ॥ देविको सहाय सोई सेवक सुजान है । हियमें निहारे शिव को सोई ज्ञानवान है ॥ ७८ ॥

दूसरा रत्न

भगवान् कल्कि।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

(गीता ४ अ०)

घोर कलिकाल के आने पर भगवान् कल्कि का अवतार संभल* नामक ग्राम में किसी विप्रकुल में होगा। उस समय धर्म का नाश तथा अधर्म की वृद्धि देखकर वे भगवान् परशुराम जी से दीक्षा ग्रहण करके बिल्वोदकेश्वर भगवान् की आराधना से वर प्राप्त कर पापियों का विनाश करेंगे, और धर्म की स्थापना करेंगे।

उस समय तेजोमय बिल्वोदकेश्वर महादेव की आराधना में तत्पर होकर भगवान् कल्कि श्रीशंकरजी की इस प्रकार स्तुति करने लगेः—

* "संभल" मुरादाबाद से दक्षिण दिशा में २३ मील पर है। यहां भगवान् कल्कि अवतार लेकर शिवोपासना द्वारा धर्मोद्धार करेंगे।

गौरीनाथं विश्वनाथं शरण्यं भूतावासं वासुकीकण्ठभूषम् ।
त्र्यक्षं पञ्चास्यादिदेवं पुराणं वन्दे सान्द्रानन्दसन्दोहदक्षम् ॥
योगाधीशं कामनाशं करालं गङ्गासङ्गक्लिन्नमूर्द्धानमीशम् ।
जटाजूटाटोपरिक्षिप्तभावं महाकालं चन्द्रभालं नमामि ॥
श्मशानस्थं भूतवेतालसङ्गं नानाशस्त्रैः खड्गशूलादिभिश्च ।
व्यग्रात्युग्रा बाहवो लोकनाशे यस्य क्रोधोद्धूतलोकोऽस्तमेति ॥
यो भूतादिः पञ्चभूतैः सिसृक्षुः तन्मात्रात्मा कालकर्मस्वभावैः ।
प्रहृत्येदं प्राप्य जीवत्वमीशो ब्रह्मानन्दो रम्यते तं नमामि ॥
स्थितौविष्णु सर्वजिष्णु सुरात्मालोकान्साधूत्धर्मसेतून बिभर्षि
ब्रह्माद्यांशे योऽभिमानी गुणात्मा शब्दाद्यङ्गैस्तं परेशं भजामि ॥
यस्याज्ञया वायवो वान्ति लोके ज्वलत्यग्निः सविता याति तप्यन्
शीतांशुः स्वेतारकैः संग्रहैश्च प्रवर्त्तते तं परेशं प्रपद्ये ॥
यस्याश्वासात् सर्वधात्री धरित्री देवो वर्षत्यम्बुकालः प्रमाता ।
मेरुर्मध्ये भुवनानाञ्च भर्त्ता तमीशानं विश्वरूपं नमामि ॥
इति कल्किस्तवं श्रुत्वा शिवः सर्वात्मदर्शनः ।
साक्षात् प्राह हसन्नीशः पार्वतीसहितोऽग्रतः ॥ ॥ २१ ॥
कल्केः संस्पृश्य हस्तेन समस्तावयवं मुदा ।
तमाह वरय श्रेष्ठ ! वरं यत्तेऽभिकांक्षितम् ॥ २२ ॥

त्वया कृतमिदं स्तोत्रं ये पठन्ति जना भुवि ।
तेषां सर्वार्थसिद्धिः स्यादिह लोके परत्र च ॥ २३ ॥
विद्यार्थी चाप्नुयाद्विद्यां धर्मार्थी धर्ममाप्नुयात् ।
कामानवाप्नुयात् कामी पठनाच्छ्रवणादपि ॥ २४ ॥
त्वंगारुड़मिदं चाश्वं कामगं बहुरूपिणम् ।
शुकमेनञ्च सर्वज्ञं मया दत्तं गृहाण भोः ॥ २५ ॥
सर्वशास्त्रास्त्रविद्वांसं सर्ववेदार्थपारगम् ।
जयिनं सर्वभूतानां त्वां वदिष्यन्ति मानवाः ॥ २६ ॥
रत्नोत्सवं करालञ्च करवालमहाप्रभम् ।
गृहाण गुरुभारायाः पृथिव्या भारसाधनम् ॥ २७ ॥

(कल्कि पु० ३ अ०)

गौरीपति विश्वनाथ सबके अनन्य रक्षक और भूतगणों के आश्रय हैं, वासुकी सर्प जिनके कण्ठ का भूषण है, जिनके तीन नेत्र हैं और पांच मुख हैं। मुक्ति सुख को देनेवाले, पुराण पुरुष आदि देव को नमस्कार है—जो योग के स्वामी, काम का नाश करनेवाले और जो काल-स्वरूप हैं। जिनका मस्तक गंगा के संग से गीला रहता है। जिनके जटाजूट की अपूर्व शोभा है, ऐसे महाकाल-रूप चन्द्र-भाल शिवजी को मेरा प्रणाम है ॥ जो सदा भूतगण और

बेताल के साथ श्मशान में वास करते हैं, जिनके हाथों में खड्ग, शूल आदि अनेक अस्त्र शोभा देते हैं, और प्रलयकाल में जिनके क्रोध से उत्पन्न हुई अग्नि में सम्पूर्ण लोक ग्रस्त हो जाते हैं, जो पञ्च तन्मात्रा रूप होकर अदृष्ट तथा काल के साथ सृष्टि की रचना करते हैं, जो जीव रूप को प्राप्त होकर सब असत् पदार्थों को त्याग, ब्रह्मानंद में मग्न रहते हैं, उन शिवजी को प्रणाम है। जो जगत् की रक्षा के लिये देवात्मा सर्व-विजयी विष्णु-रूप को धारण करके धर्म के सेतु-रूप साधु पुरुषों की रक्षा करता है और जो शब्दादि रूप से गुणात्मा होकर ब्रह्माभिमानी होते हैं, उन शिवजी को मेरा नमस्कार है। जिनकी आज्ञा से जगत् में पवन चलता है, अग्नि प्रज्वलित होती है, सूर्य ताप और प्रकाश करता हुआ विचरता है, चन्द्रमा, ग्रह और तारगण आकाश में प्रकाशित होते हैं, उन शिवजी की मैं शरण लेता हूँ॥ जिनकी आज्ञा से पृथ्वी सम्पूर्ण विश्व को धारण कर लेती है, इन्द्र देवता वर्षा करते हैं, काल कार्यों का विभाग करता है, सम्पूर्ण विश्व का आधार-रूप मेरु मध्य में स्थित रहता है, उन विश्व-रूप शिवजी को मेरा नमस्कार है।

सर्वज्ञ शिवजी ने कल्कि भगवान् की इस प्रकार स्तुति सुनकर प्रीति से उनके सम्पूर्ण अंगों को स्पर्श करके कहा—हे श्रेष्ठ! तुम्हारी जो इच्छा हो, वही वरदान माँग लो। तुमने जो स्तुति की है उसे भूतल पर जो पुरुष पढ़ेगा,

इस लोक और परलोक में उनके सब कार्य सिद्ध होंगे। यदि विद्यार्थी पाठ करेगा तो विद्या पावेगा, धर्म का इच्छुक धर्म पावेगा, और भोग्य वस्तुओं के चाहनेवाला भोग्य वस्तुओं को पावेगा । जो मनुष्य इच्छा करके तुम्हारे इस स्तोत्र का पाठ करेगा, अथवा श्रवण करेगा उसको वे सम्पूर्ण कामनायें प्राप्त होंगी। यह घोड़ा तुमको देता हूँ जो गरुड़ के अंश से उत्पन्न हुआ है। कल्कि भगवान् आशुतोष शिवजी की आज्ञा से उनको नमस्कार कर, उस घोड़े पर चढ़ शीघ्र ही सम्भल ग्राम को चले गये । शिवजी से प्राप्त हुए वरदान की बात क्रम से सुनकर चित्त में प्रसन्न होते हुए परम तेजस्वी कल्कि भगवान् ने अपनी जाति के ब्राह्मणों से कहा—गार्ग्य, भर्ग्य, विशाल आदि कल्कि भगवान् के इस वृतान्त को सुनकर प्रसन्न हुए।

गार्ग्यभर्ग्यविशालाद्यास्तच्छ्रुत्वा नन्दिताः स्थिताः ॥३१॥

(कल्कि पु० ३ अध्या०)

तीसरा रत्न

भगवान् नृसिंहजी ।

हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद हुआ। वह बड़ा तपस्वी, सत्यवादी, धर्मज्ञ और महात्मा था तथा बाल्यावस्था से ही पुराण पुरुष भगवान् श्रीविष्णु की पूजा में तत्पर रहा। उस प्रह्लाद की यह चेष्टा देख अति क्रोध कर एक दिन हिरण्यकशिपु कहने लगा—रे कुपुत्र प्रह्लाद ! मेरे प्रताप के आगे कौन नारायण है ? इन्द्र, वरुण, कुबेर, वायु, सोम, ईशान, अग्नि, यम और ब्रह्मादि देवता सभी मुझ से डरते हैं। तू जीने की इच्छा रखता हो तो मेरी आज्ञा का पालन कर पिता का कठोर वचन सुनकर भी प्रह्लाद ने विष्णुभक्ति का त्याग न किया ! 'ओं नमो नारायणाय' यही मन्त्र उच्चारण करता रहा और सब दैत्यों के बालकों को भी ब्रह्मविद्या का उपदेश देता रहा। तब तो हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को अनेक यातना दी; परन्तु भगवान् के प्रभाव से उसका बाल भी बांका न हो सका। भक्त का कष्ट न सहकर प्रह्लाद की रक्षा व हिरण्यकशिपु का संहार करने के लिये विष्णु भगवान् नृसिंह-रूप धार, प्रगट हो हिरण्यकशिपु का उदर विदार कर गर्जने लगे। उनके घोर शब्द से ब्रह्मलोक पर्य्यंत काँप उठे। यम, कुबेर, इन्द्र और ब्रह्मादि सब नृसिंहजी की स्तुति करने लगे।

अनेक स्तुति करने पर भी जब नृसिंहजी शान्त न हुए तब देवता अपनी रक्षा के लिये मन्दराचल में शिवजी की शरण गये। वहाँ पार्वतीजी के संग विराजमान, शिव-गण, गंधर्व, विद्याधर आदि करके सेवित श्रीमहादेवजी के आगे सब नृसिंहजी की चेष्टा वर्णन करने लगे और दण्डवत् प्रणाम करके सब देवताओं के सहित ब्रह्माजी हाथ जोड़कर गद्‌ गद्‌ वाणी से स्तुति करने लगेः—

नमस्ते कालकालाय नमस्ते रुद्रमन्यवे ।
नमः शिवाय रुद्राय शंकराय शिवाय ते ॥ १ ॥
उग्रोऽसि सर्वभूतानां नियन्तासि शिवोऽसि नः ।
नमः शिवाय शर्वाय शंकरायार्तिहारिणे ॥ २ ॥

इस भाँति देवताओं के अति दीन वचन सुन, शिवजी ने उनको अभय दिया और हँसकर कहा कि तुम प्रसन्न रहो, मैं तुम्हारा कार्य करूँगा।

भगवान् शिवजी ने तेजोरूप पक्षी का रूप धारण किया जिनके सहस्र भुजा, मस्तक पर चन्द्रमा शोभित, आधा शरीर मृग का और आधा पक्षी का, बड़े २ पंख, तीखी चोंच, वज्र के तुल्य नख, अति तीक्ष्ण दाढ़, नीलकण्ठ, प्रबल अग्नि के समान देदीप्यमान देह, तीन नेत्र थे। उनको प्रलय के मेघ के समान गम्भीर शब्द करते हुए देखकर नृसिंहजी शान्त हो स्तुति करने लगेः—

नमोरुद्रायशर्वायमहाग्रासायविष्णवे ।
नम उग्रायभीमाय नमःक्रोधायमन्यवे ॥ १ ॥
नमोभवायशर्वायशङ्करायशिवायते ।
कालकालायकालायमहाकालायमृत्यवे ॥ २ ॥
वीरायवीरभद्रायक्षयद्वीरायशूलिने ।
महादेवायमहतेपशूनांपतयेनमः॥ ३ ॥
एकायनीलकण्ठायश्रीकण्ठायपिनाकिने ।
नमोऽनन्तायसूक्ष्मायनमस्तेमृत्युमन्यवे ॥ ४ ॥
परायपरमेशायपरात्परतरायते ।
परात्परायविश्वायनमस्तेविश्वमूर्त्तये ॥ ५ ॥
नमोविष्णुकलत्रायविष्णुक्षेत्रायभानवे ।
कैवर्त्तायकिरातायमहाव्याधायशाश्वते ॥ ६ ॥
भैरवायशरण्यायमहाभैरवरूपिणे ।
नमोनृसिंहसंहर्त्रेकामकालपुरारये ॥ ७ ॥
महापापौघसंहर्त्रेविष्णुमायांतकारिणे ।
त्र्यम्बकायत्र्यक्षरायशिपिविष्टायमीढुषे ॥ ८ ॥
मृत्युंजयायशर्वायसर्वज्ञायमखारये ।
मखेशायवरेण्यायनमस्तेवह्निरूपिणे ॥ ९ ॥

महाग्राणायजिह्वायप्राणापानप्रवर्त्तिने ।
नमश्चन्द्राग्निसूर्यायमुक्तिवैचित्र्यहेतवे ॥ १० ॥
वरदायावतारायसर्वकारणहेतवे ।
कपालिनेकरालायपतयेपएयकीर्त्तये ॥ ११ ॥
अमोघायाग्निनेत्रायलकुलीशायशंभवे ।
भिषक्तमायमुण्डायदण्डिनेयोगरूपिणे ॥ १२ ॥
मेघवाहायदेवायपार्वतीपतयेनमः ।
अव्यक्तायविशोकायस्थिरायस्थिरधन्विने ॥ १३ ॥
स्थाणवेकृत्तिवासायनमःपंचार्थहेतवे ।
वरदायैकपादायनमश्चन्द्रार्द्धमौलिने ॥ १४ ॥
नमस्तेऽध्वरराजायवयसांपतयेनमः ।
योगीश्वरायनित्यायसत्यायपरमेष्ठिने ॥ १५ ॥
सर्वात्मनेनमस्तुभ्यंनमःसर्वेश्वरायते ।
एकद्वित्रिचतुष्पंचकृत्वस्तेस्तुनमोनमः ॥ १६ ॥
दशकृत्वस्तुसाहस्रकृत्वस्तेचनमोनमः ।
नमोनमोनमोभूयः पुनर्भूयोनमोनमः ॥ १७ ॥

(लिंग पु० ९६ अध्याय)

इस तरह स्तुति कर देवताओं के देखते २ अपनी चर्म (बाघम्बर) शिवजी के निमित्त अर्पण कर नृसिंहजी अंतर्धान हो गये और देवता भगवान् का स्मरण करते २ अपने अपने स्थान को चले गये। जो नृसिंहजी का स्तोत्र पढ़ता अथवा सुनता है वह शिवलोक में जाकर शिवजी का गण होता है।

यः पठेच्छृणुयाद्वापि स्तवं सर्वमनुत्तमम् ।
स रुद्रत्वं समासाद्य रुद्रस्यानुचरो भवेत् ॥

(लिं० पु० ९६ अ०)

चौथा रत्न

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी ।

अपने पिताजी की आज्ञा से श्रीरामचन्द्रजी ने चौदह वर्ष वन में निवास करना स्वीकार किया था। उस वनवास के समय रावण सती सीता को हर ले गया। श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी बड़ी भारी वानरी सेना लेकर समुद्र के ऊपर पुल बाँध लङ्का में घुस गये और वहाँ उन्होंने राक्षसों से युद्ध ठान लिया।

रावण ने इन लोगों को तुच्छ समझ कर थोड़े से साधारण राक्षस भेज दिये; परन्तु इधर के वानरों ने उन्हें क्षण भर में

समाप्त कर दिया। तब तो रावण ने समझा कि किसी भारी शक्ति से सामना करना है इसलिये कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि महाबलशाली निज कुटुम्बियों को साथ लेकर वह स्वयं रणक्षेत्र में उतर गया। इन लोगों के सामने आने पर श्रीरामजी और लक्ष्मणजी भी कमर कसके तैयार हो गये। परन्तु वह था धर्म और अधर्म का युद्ध। एक ओर अपनी भार्या के उद्धाररूपी धर्म के पालन के लिये दुष्टों का संहार करनेवाले महापुरुष थे और दूसरी ओर परदारापहारी, देवता और मुनिगण का दुःख देनेवाले नराधम। धर्म की विजय तो सर्वत्र होती ही है। इस युद्ध में भी वानरी सेना ने राक्षसों के दल को मल डाला। हनुमान् ने धूम्राक्ष को, विभीषण ने प्रहस्त और मकराक्ष को, सुग्रीव ने देवान्तक और नरान्तक को, तथा लक्ष्मणजी ने त्रिशिरा और कुम्भकर्ण को अपने २ आयुधों से काल के गाल में पहुँचा दिया।

रावण को यह देखकर बड़ा क्रोध आया। अतः उसने परम पराक्रमी इन्द्र को भी जीतनेवाले अपने पुत्र मेघनाद को युद्ध में भेजा। वह अपनी राक्षसी माया से राम और लक्ष्मण को मोहित कर कुमुद, अङ्गद, सुग्रीव, नल, जाम्बवान् आदि महाबलशाली वानरों को समरांगण में गिराकर आकाश में अन्तर्धान हो गया। वह सबको देख सकता था, पर उसे कोई नहीं देख पाता था।

ऐसी अवस्था देखकर कुबेर ने ऐसा जल भेजा जिसको

आँखों में लगाने से छिपा हुआ भी मनुष्य दिखाई पड़ जाता था। विभीषण के कहने से सबने उस जल से आँखें धो डालीं। आँखों के धोते ही सब लोगों को आकाश में छिपा हुआ मेघनाद दिखाई दिया। लक्ष्मणजी ने दौड़कर उसके ऊपर बाणों की वर्षा की। उसने भी इसका समुचित उत्तर दिया। इस प्रकार तीन दिनों तक घमासान युद्ध होता रहा। चौथे दिन लक्ष्मणजी ने उसका सिर काट लिया। इधर भगवान् रामचन्द्रजी ने ब्रह्मास्त्र से रावण के दसों सिर काट डाले। रावण के मरते ही लंका में रामराज्य हो गया।

राक्षसी सेना का विनाश कर दल-बल समेत श्रीरामचन्द्र भगवान् गन्धमादन पर्वत पर विराजमान हुए। उसी समय मुनि लोग उनकी स्तुति करने के लिये पहुंचे। श्रीरामचन्द्रजी ने उनसे आदरपूर्वक कहा—हे पूज्य मुनिगण! संसार-सागर से मुक्ति पाने के लिये लोग मेरी शरण आते हैं और मैं उनको पार कर देता हूँ। परन्तु स्वात्मलाभ से सन्तुष्ट, प्राणिमात्र के उपकार करनेवाले, अहंकार-रहित, शान्त, ऊर्ध्वरेता मुनियों की मैं सदा रक्षा करता हूँ। इसीसे लोग मुझे ब्रह्मण्यदेव कहते हैं। मुझे पुलस्त्य के कुल के विनाश से ब्रह्महत्या का पाप लगा है। मैं आप लोगों से यह जानना चाहता हूं कि उस पाप से मुझे कैसे छुटकारा मिल सकता है।

मुनियों ने विचारकर कहा—हे जगद्रक्षाधुरन्धर श्रीरामचन्द्रजी! आप संसार में भव्य आदर्श उपस्थित करने के

लिये महापुण्य तथा मुक्ति के देनेवाले शृङ्ग पर शिवलिंग का स्थापन कीजिये। दशग्रीव के वध का पाप इससे छूट जायगा। शिव-लिंग-स्थापन के फल का वर्णन चार मुखवाले ब्रह्मा भी नहीं कर सकते, मनुष्य तो कर ही क्या सकता है? आपके द्वारा गन्धमादन पर्वत पर संस्थापित शिवलिंग के दर्शनों का विश्वनाथजी के दर्शनों से कोटिगुणित फल होगा। हे महा-भाग! आप ही के नाम पर इस लिंग का नाम पड़ेगा और इसके दर्शनों से महापातकों का भी शमन हुआ करेगा। अतः संसार के उपकार के लिये आप अवश्य शिवलिंग की संस्थापना इसी पवित्र पर्वत पर कीजिए।

श्रीरामचन्द्रजी ने मुनियों का वचन सुन, एक दो घड़ी के भीतर ही शिव-लिग-स्थापन का शुभ मुहूर्त निश्चय किया और हनुमान् को कैलास से उसी समय शिवलिंग लाने का आदेश दिया। हनुमानूजी वहाँ से चले और क्षण भर में आकाश में उड़ते हुए कैलास पर पहुंचे। वहाँ उन्हें शिवजी के दर्शन न हुए। इसलिये वे कुश के अग्र भाग पर खड़े होकर प्राणायाम साधे हुए तप करने लगे। थोड़ी देर में भगवान् शंकर प्रसन्न हुए और हनुमान् को उस लिंग की प्राप्ति हो गई।

जब मुनियों ने देखा कि पुण्यकाल निकला जा रहा है तब उन्होंने रामजी से कहा कि हे महाभाग! हनुमान् तो अभीतक आये नहीं, समय व्यतीत हो रहा है, बुरे मुहूर्त में काम करने से

अभीष्टसिद्धि नहीं होती। इसलिये जानकीजी के बनाये हुए इस बालू के लिङ्ग की ही स्थापना कर लीजिये।

मुनियों की आज्ञा के अनुसार रामचन्द्रजी ने ज्येष्ठ शुक्ला दशमी बुधवार को भगवान् शंकर की स्थापना की और उनकी भक्तिपूर्वक पूजा की।

"लिंग थापि विधिवत करि पूजा
शिव समान प्रिय मोहिं न दूजा ।
शिव–द्रोही मम भक्त कहावै
सो नर सपनेहु मोहिं न भावै ।
शंकर–विमुख भक्ति चह मोरी
सो नर मूढ़ भेद मति थोरी ।
शंकर–प्रिय मम द्रोही, शिव–द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक महँ वास ॥ ३ ॥"

(लङ्का काण्ड)

वानर लोग सुन्दर सुन्दर सुगन्धित पुष्प उस वन से तोड़ लाये। फलों और मूलों के तो उन्होंने पर्वत लगा दिये। सभी तीर्थों और नदियों का जल भर लाये। सर्वशास्त्रपारंगत परम पुनीत महर्षियों के वेद-घोष से आकाश गूँज उठा। षोड़श उपचारों से पूजनकर श्रीरामचन्द्रजी स्तुति करने लगे।

उसी समय उस लिंग से पार्वती को साथ लिये हुए शंकर भगवान् प्रकट हुए और कहने लगे कि हे श्रीरामचन्द्रजी! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा ब्रह्मकुल के विनाश से उत्पन्न

पातक दूर हो गया। तुम्हारे हाथों से स्थापित इस लिंग का जो मनुष्य दर्शन करेगा उसके सब पाप नष्ट हो जायँगे। इस प्रकार वर देकर वे अन्तर्धान हो गये।

श्रीरामचन्द्रजी उस सैकत लिंग की आराधना कर ही रहे थे कि इतने में हनुमान्‌जी सुन्दर लिंग लेकर आ पहुँचे। अपना परिश्रम व्यर्थ होता देखकर उन्हें दुःख हुआ और वे बोले—नाथ! "यहाँ पर असंख्य वानर थे" उनमें आपने मेरे ऊपर दया करके आज्ञा दी। मैं आपकी आज्ञा के अनुसार शीघ्र वहाँ गया। शिवजी के न मिलने के कारण मुझे आने में कुछ देर हुई तो भी मैं समय बीतने के पहले ही आ गया हूँ। आपने मेरे आने की प्रतीक्षा कुछ भी न की और झट एक बालू का लिंग स्थापित कर दिया। अब कैलास से लाया गया लिंग का क्या होगा? आपने मेरे ऊपर इतनी भी दया न की, अब मैं संसार में मुँह दिखाने योग्य नहीं रह गया। इसलिये अब मैं शरीर का परित्याग कर दूँगा। ऐसा कहकर वे श्रीरामजी के चरणों पर गिर पड़े।

अपने भक्त के दुःख से श्रीरामचन्द्रजी के मन में बहुत दुःख हुआ और वे करुणार्द्र हृदय से सान्त्वना देते हुए कहने लगे— "हे प्रिय भक्त! तुमने जो मेरी सेवा की है उसको मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तुम्हारे आने की प्रतीक्षा न कर मैंने जो शिवलिंग स्थापित किया, उसके भी औचित्य-अनौचित्य को मैं खूब समझता हूँ। जीव का जन्म-मरण, और स्वर्ग-नरक अपने ही कर्मों से होता है। परमात्मा तो असंग,

निर्गुण और निर्लेप है। मान-अपमान तो इस शरीर का हुआ करता है। आत्मा तो निरंजन, निराश्रय और निर्विकार है। तत्वज्ञान में बाधा पहुँचानेवाला शोक तुम क्यों कर रहे हो ? तुम्हें तत्वज्ञान में प्रेम करना चाहिये और सदा यह ध्यान में रखना चाहिये कि मेरी आत्मा स्वयं प्रकाशमय है, उसका कभी मान-अपमान नहीं हो सकता। शरीर आदि लौकिक पदार्थों की ममता छोड़कर धर्म का सेवन करो। सज्जनों की सेवा किया करो। प्राणिमात्र की हिंसा न करने की प्रतिज्ञा कर लो। दूसरे के दोषों की कभी चर्चा न चलाया करो। शिव, विष्णु आदि देवों की सदा भक्तिपूर्वक पूजा किया करो। सत्य का पालन और शोक का परित्याग किया करो। तुम्हें शान्ति मिलेगी ।

तुम्हें इस समय भ्रान्ति हो रही है, भ्रम बड़ा हानिकारक होता है। भ्रान्त जन को अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। वे राग-द्वेष के वश में होकर धर्म-अधर्म के झगड़े में पड़ जाते हैं और स्वर्ग-नरक में चक्कर लगाया करते हैं। इस पार्थिव शरीर का उन्हें बड़ा मोह हो जाता है और उस निर्लेप आत्मा को भूल जाते हैं।

यह शरीर बड़ा ही अधम है। चन्दन, अगर, कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्य भी इस शरीर के संयोग से मल हो जाते हैं। संसार के उत्तम से उत्तम स्वादिष्ट भक्ष्य पदार्थ इस शरीर के संयोग से ऐसे रूप में बदल जाते हैं-जिनके छूने में भी घृणा

होती है। शीतल सुगन्धित जल इसके संगम से मूत्र के रूप में परिवर्तित हो जाता है और उसके स्पर्श मात्र से वस्तु अपवित्र हो जाती है। अति धवल एवं परम पवित्र वस्त्र भी इस शरीर के संयोग से मलिन हो जाते हैं। ऐसे मलिन शरीर को थोड़ी सी भी बुद्धि रखनेवाला मनुष्य कभी अच्छा नहीं कह सकता। इसके ऊपर ममता रखना बुद्धिमानी का काम नहीं।

हे वायुनन्दन ! मैं तुमको परमार्थ की बात बताता हूँ। देखो, इस संसार-गर्त में सौख्य का नाम भी नहीं है। मनुष्य का जीवन आदि से अन्त तक दुःखों ही से पूर्ण है। जीव पहले तो गर्भ का दारुण दुःख भोगता है। बाल्यकाल में पराधीनता का दुःख तो असाध्य ही हो जाता है। फिर जब जवानी आती है तब मनुष्य यौवन-मद में चूर होकर लौकिक क्षणिक सुख को ही परम सुख मान बैठता है और परलोक को एकदम भूल जाता है। थोड़े ही दिनों में जवानी ढल जाती है और बुढ़ौती आ जाती है। इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर जीर्ण हो जाता है, चलने-फिरने की शक्ति नहीं रह जाती। परम प्रिय पुत्र, कलत्र आदि भी घृणा करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में दारुण कष्ट का अनुभव होने लगता है; परन्तु शरीर की ममता उस समय भी नहीं छूटती। अन्त में शरीर से प्राण निकलने लगते हैं। उस समय एक करोड़ बिच्छू के डंक मारने का कष्ट जीव को होता है; परन्तु कुछ उपाय न होने के कारण वह दारुण

दुःख भोगना ही पड़ता है। मरने के अनन्तर फिर अनेक योनियों के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

ये सब दुःख अज्ञान ही के कारण होते हैं। जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती हैं उस समय उत्तम सुख प्राप्त होता है। अज्ञान की निवृत्ति कर्म से कभी नहीं होती। जब होती है तब ज्ञान ही से होती है। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वेदान्त-वाक्यों के अर्थानुभव से ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान ही साक्षात् ब्रह्म है। ज्ञान की प्राप्ति गुरु के प्रसाद से मुख्याधिकारी परम विरक्त ही को होती है, अन्य को नहीं। जब मनुष्य के हृदय से सब काम निवृत्त हो जाते हैं, किसी प्रकार की वासना नहीं रह जाती तब जीव ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।

क्रूर काल जागते, सोते, खाते, पीते समय जीव को कवलित कर लेता है। मनुष्य को मरने से तो डरना ही नहीं चाहिए, क्योंकि इस पार्थिव शरीर का तो एक दिन अन्त होना ही है। जिस प्रकार फल के पक जाने पर उसका पतन अवश्यम्भावी होता है उसी प्रकार इस शरीर का पतन अवश्य होगा। जैसे बहुत दृढ़ नीव होने पर भी समय आने पर भवन विना गिरे नहीं मानता, उसी प्रकार भोजनाच्छादन से सुदृढ़ शरीर भी जरा और मृत्यु के वश में पड़कर नष्ट हो जाता है। मृत्यु साथ ही साथ रहती है। कोई कितनी भी दूर चला जाय मृत्यु उसका पीछा नहीं छोड़ती; परन्तु इस मृत्यु से डरना नहीं चाहिये, क्योंकि यह मृत्यु आत्मा की तो होती नहीं, शरीर

की होती है। आत्मा को तो न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न जल हानि पहुँचा सकता है और न वायु सुखा सकती है*। यह आत्मा सबमें एक रूप से व्याप्त है। इसमें भेद नहीं। एक ब्रह्म के अतिरिक्त संसार में दूसरी कोई वस्तु ही नहीं। इसलिये तुम्हारी आत्मा और मेरी आत्मा में कोई भेद नहीं है। जो काम मैंने किया वह तुम्हारा किया हो-गया, जो तुमने किया वह मेरा किया हो गया। मेरे हाथों से स्थापित लिंग तुम्हारे ही हाथों से स्थापित समझा जाना चाहिये।

हे पवन-सुत! पुण्यकाल बीता जाता था, इसीसे बालू का लिंग स्थापित कर दिया। तुम्हें इसपर शोक या दुःख नहीं करना चाहिये। कैलास से लाये हुए लिंग को तुम अपने हाथों से इसी पवित्र भूमि में स्थापित करो। यह तुम्हारे नाम पर तीनों लोकों में प्रसिद्ध होगा। तुमने बहुत से ब्रह्मराक्षसों का वध किया है, इसलिये तुम्हें भी शिवस्थापन की उतनी ही

---

* नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

(भगवद्गीता २ अ०)

आवश्यकता है जितनी मुझको। इस लिंग के स्थापन से तुम पापमुक्त हो जावोगे।

स्वयं शिवजी के दिये हुए लिंग के दर्शन कर जो रामनाथेश्वर के दर्शन करेगा वह मनुष्य कृतकृत्य हो जायगा। एक हजार योजन दूर बैठा हुआ भी मनुष्य यदि हनुमदीश्वर और रामनाथेश्वर का नाम लेगा उसे सायुज्य मुक्ति प्राप्त होगी। जो इन दोनों के दर्शन करेगा उसे सब यज्ञों और सब तपों का फल मिल जायगा। इसलिये अपने पाप-समुदाय की शुद्धि के लिये इस लिंग की स्थापना यहीं कर दो।

इतने पर भी यदि तुम्हें मेरे कथन से सन्तोष न हुआ हो तो तुम इस लिंग को उखाड़ डालो, मैं तुम्हारे ही लाये हुए लिंग को स्थापित कर दूँगा। मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें यह आज्ञा देता हूँ।

हनुमान्‌जी को इस आज्ञा से बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अपने मन में विचार किया कि इस बालू के लिंग के उखाड़ डालने में कितना परिश्रम होगा इसे तो मैं अनायास ही उखाड़ डालूंगा। परन्तु उन्होंने यह विचार नहीं किया कि उस लिंग की स्थापना भगवान् रामचन्द्रजी के हाथों से स्थिर मुहूर्त में हुई थी, उसका उखाड़ना हँसी-खेल नहीं है। पुण्य मुहूर्त का माहात्म्य उन्हें ज्ञात नहीं था!

हनुमान्‌जी ने सब लोगों के सामने ही उस बालूके लिंग के उखाड़ने का प्रयत्न किया। वे अपनी पूरी शक्ति लगाकर उस-

को हिलाने लगे, पर वह तिल भर भी अपने स्थान से न डिगा। तब उन्होंने घोर किलकिला शब्द करते हुए अपनी पुच्छ उस लिंग से लपेट ली और बड़े वेग से आकाश की ओर उछले। उस समय सातों द्वीपों की पृथ्वी हिल गई। सभी कुलाचल डिग गये। सूर्य और चन्द्र भी डोल गये। किन्तु वह लिंग तल, अतल, वितल, सुतल, पाताल आदि तक प्रविष्ट था। उसका हनुमान्‌जी को इतने जोरों से धक्का लगा कि वे कोस भर दूर जा गिरे। उनके सभी छिद्रों से रक्त की धाराएँ बहने लगीं और वे मूर्च्छित हो गये। सबने समझा कि प्राण निकल गये इसलिये हाहाकार मच गया। राम, लक्ष्मण, सीता, सुग्रीव, अङ्गद, आदि दौड़कर उस स्थान पर पहुँचे और विलाप करने लगे।

सीताजी ने अपने कोमल हाथों से उनके शरीर का स्पर्श किया और रुदन करने लगीं। भगवान् रामचन्द्रजी ने उन्हें अपनी गोद में उठा लिया और वे कातर स्वर में उनके गुणों का वर्णन करने लगे। उन्होंने कहा कि हे महावीर! तुमने हम लोगों की बड़ी सेवा की है। ऐसे-ऐसे कठिन समयों में तुमने मेरी सहायता की, जिस समय दूसरे की शक्ति काम ही नहीं दे सकती थी। तुम्हारी ही सहायता से हम लोग रावणादि राक्षसों को मार सके हैं। हे अंजनीनन्दन! तुम हम लोगों को मार्ग ही में छोड़कर क्यों चले गये? अब मुझे संसार में किसी से कुछ काम नहीं। न तो मुझे राज्य चाहिए और न सीता।

मैं अब अपने शरीर का परित्याग करूँगा ।

इतने में ही हनुमान्‌जी की मूर्च्छा निवृत्त हो गई और उनका चित्त स्वस्थ हो गया। अपने सामने भगवान् को देख कर उनकी आँखें खुल गईं और श्रीरामजी को साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर के रूप में देखा। वे उनके चरणों पर गिर गये और स्तुति करने लगे।

उनकी स्तुति से श्रीरामजी प्रसन्न होकर कहने लगे कि तुमने यह काम अज्ञान से किया, उसका फल मिल गया। मेरे स्थापित इस लिंग को संसार की समूची शक्ति भी नहीं उखाड़ सकती। महादेव के अपराध से तुमको यह फल मिला, अब कभी शिव-जी का विरोध मत करना।

हनुमान्‌जी ने रामनाथेश्वर के समीप ही कैलास से लाये हुए लिंग का संस्थापन करा दिया। रामचन्द्रजी के वचन से उस लिंग के दर्शन किये बिना रामनाथेश्वर के दर्शनों का कुछ फल नहीं होता।

रामचन्द्रजी ने उनकी पूजा के लिये अनेक ग्राम लगा दिये। जिनकी आय से पूजा करनेवाले सद्ब्राह्मणों के कुटुम्ब का पालन हो सके। शिवजी के भोग के लिये भी अनेक गाँव लगा दिये गये। हार, केयूर, कटक, कुण्डल आदि अनेक आभरण समर्पण किये और सुन्दर रेशमी वस्त्र पहनने के लिये सेवा में उपस्थित किये।

भगवान् रामचन्द्र ने रामनाथेश्वर और हनुमदीश्वर का

माहात्म्य स्वयं इस प्रकार वर्णन किया है :—

"जे(१)रामेश्वर दर्शन करिहहिं ❀ ते तनु तजि मम धाम सिधरिहहिं॥
जे गंगाजल आनि चढ़ाइहिं ❀ सो सायुज्य मुक्ति वर पाइहिं ॥"

स्वयं हरेण दत्तं तु हनुमन्नामकं शिवम् ।
सम्पश्यन् रामनाथं च कृतकृत्यो भवेन्नरः ॥६१॥
योजनानां सहस्रेऽपि स्मृत्वा लिंगं हनूमतः ।
रामनाथेश्वरं चापि स्मृत्वा सायुज्यमाप्नुयात् ॥६२॥
तेनेष्टं सर्वयज्ञैश्च तपश्चाकारि कृत्स्नशः ।
येन दृष्टौ महादेवौ हनूमद्राघवेश्वरौ ॥६३॥

(स्क० पु० ब्र० खं० से० मा० ४५ अ०)

पाचवाँ रत्न

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ।

लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की आठ पटरानियाँ थीं। उनमें से जाम्बवती के एक भी पुत्र नहीं था । उन्होंने एक बार श्रीकृष्णजी से प्रार्थना की कि हे देव ! मेरे एक भी पुत्र नहीं है,

---

(१) श्रीरामचन्द्रजी द्वारा स्थापित "रामेश्वर" हनुमानजी द्वारा स्थापित "काशी विश्वेश्वर" विख्यात रामेश्वरम् स्टेशन है ।

इसलिये मैं बड़ी चिन्तित रहती हूं । आपने जिस प्रकार भगवान् शंकर की आराधना से रुक्मिणी के आठ पुत्र उत्पन्न किये, उसी प्रकार आप मेरे लिये भी शंकरजी की आराधना कीजिये । हे प्रभो ! आपके लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं है । आप अपने समान पुत्र देकर मुझे कृतार्थ एवं चिन्तारहित कीजिये ।

जाम्बवती की प्रार्थना सुनकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गरुड़ पर आरूढ़ हो, हिमालय पर्वत चले वहाँ वे एक आश्रम में उतर गये । उस आश्रम की शोभा विचित्र थी । कदम्ब, नारिकेल, केतक, जम्बु, वट, बिल्व, सरल, कपित्थ, प्रियाल, साल, तमाल आदि अनेक प्रकार के वृक्षों से वह आश्रम एक दम लहलहा रहा था । भिन्न-भिन्न प्रकार के विहग सुस्वाद और सुपक्क फलों के लोभ से उनपर मँड़रा रहे थे । मृग, वानर, शार्दूल, सिंह, व्याघ्र, महिष, ऋक्ष आदि अनेक पशुओं से उसमें एक विचित्र रमणीयता दृष्टिगोचर हो रही थी । उस समय देवियों की गीतसे, धारा के निनाद से, विहङ्गमों के कल-रव से, मत्त मतङ्गजों के गर्जन से, किन्नरों के मनोहर गान से, तथा सामवेद की रमणीय ध्वनि से वह आश्रम शब्दायमान हो रहा था ।

वहाँ पर असंख्य मुनि तपस्या कर रहे थे । कोई केवल वायु पीकर जीवन निर्वाह करते थे. कोई केवल जल पीकर अपने शरीरकी रक्षा कर रहे थे, कोई दो चार घूंट दूधही पीकर

अपने पाञ्चभौतिक शरीर का पोषण कर रहे थे। वे सब केवल चीर अथवा वल्कल धारण किये हुए कठिन व्रत का पालन कर रहे थे और अपने जीवनलाभ का पूर्ण फल पा रहे थे।

श्रीकृष्णचन्द्रजी भी उसी परम पुनीत वनके एक रुचिर प्रदेश में महर्षि उपमन्यु की दीक्षा लेकर तपस्या करने लगे। उन्होंने दण्ड और मेखला धारण कर लिया, हाथ में कुशा ले लिया, मुण्डन करा लिया और एक शिवलिंग स्थापित कर उसकी प्रतिदिन षोडशोपचार से पूजा करते हुए घोर तप करने लगे। प्रारम्भ में उन्होंने एक महीने तक केवल फल खाया। दूसरे महीने में केवल जल पीकर निर्वाह किया। तीसरे, चौथे और पाँचवें महीने में केवल वायु पी-पीकर समय बिताया। ऊपर को हाथ उठाये हुए, एक पैर पर खड़े होकर वे पाँच महीनों तक पञ्चाक्षर मन्त्र का एकाग्र चित्त से जप करते रहे।

एक दिन शिवार्चन करके जब वे आकाश की ओर देखते हुए भगवान् शङ्कर का ध्यान कर रहे थे, उसी समय आकाश में सहस्रों सूर्य के समान तेज दृष्टिगोचर हुआ। उस तेज के मध्य में जगन्माता पार्वती समेत भगवान् शिवजी विराजमान थे। उनके सिर पर जटाजूट के मध्य में श्रीगंगाजी सुशोभित हो रहीं थीं, त्रिशूल हाथ में लिये हुए थे, व्याघ्रचर्म अपने शरीर में लपेटे हुए थे, नाग का यज्ञोपवीत पहिने हुए थे, अनेक वर्ण के दिव्य पुष्पों की माला घुटनों तक लटकती हुई अपूर्व शोभा दे रही थी। प्रमथ आदि गण उनके आस-

पास विद्यमान थे। देवता, सभी मुनि और विद्याधर गन्धर्व हाथ जोड़कर उनकी स्तुति कर रहे थे।

उनके तेज से श्री कृष्णचन्द्रजी की आँख बन्द हो गईं और वे हाथ जोड़े खड़े रह गये। उसी समय शिवजी ने समीप आकर कहा कि हे कृष्ण! आप मेरे बड़े प्यारे हैं, आपने मेरी सैकड़ों वार आराधना की है। मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूँ। तब श्रीकृष्णजी उनको आदर सहित नमस्कार करके इस प्रकार स्तुति करने लगेः—

नमोस्तु ते शाश्वतसर्वयोने ब्रह्माधिपं त्वामृषयो वदन्ति।
तपश्च सत्यं च रजस्तमश्च त्वामेव सत्यं च वदन्ति सन्तः ॥१॥
त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः।
धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः ॥ २ ॥
त्वत्तो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
त्वया सृष्टमिदं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ३ ॥
यानीन्द्रियाणीह मनश्च कृत्स्नं ये वायवः सप्त तथैव चाग्नयः।
ये देवसंस्थास्तव देवताश्च तस्मात् परं त्वामृषयो वदन्ति ॥४॥
वेदाश्च यज्ञाः सोमश्च दक्षिणा पावको हविः।
यज्ञोपगं च यत्किञ्चिद्ध भगवांस्तदसंशयम् ॥ ५ ॥
इष्टं दत्तमधीतं च व्रतानि नियमाश्च ये।
ह्रीः कीर्तिः श्रीर्द्युतिस्तुष्टिः सिद्धिश्चैव तदर्पणी ॥ ६ ॥

कामः क्रोधो भयं लोभो मदः स्तम्भोऽथ मत्सरः।
आधयो व्याधयश्चैव भगवांस्तनवस्तव ॥ ७ ॥
कृतिर्विकारः प्रणवः प्रधानं बीजमव्ययम्।
मनसः परमा योनिः प्रभावश्चापि शाश्वतः ॥ ८ ॥
अव्यक्तः पावनोऽचिन्त्यः सहस्रांशुर्हिरण्मयः।
आदिर्गणानां सर्वेषां भवान् वै जीविताश्रयः ॥ ९ ॥
महानात्मामतिर्ब्रह्मा विश्वः शम्भुः स्वयम्भुवः।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च संवित्ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ॥ १० ॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते।
त्वां बुध्वा ब्राह्मणो वेदात् प्रमोहं विनियच्छति ॥ ११ ॥
हृदयं सर्वभूतानां क्षेत्रज्ञस्त्वमृषिस्तुतः।
सर्वतः पाणिपादस्त्वं सर्वतोक्षिशिरोमुखः ॥ १२ ॥
सर्वतः श्रुतिमांल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि।
फलं त्वमसि तिग्मांशोर्निमेषादिषु कर्मसु ॥ १३ ॥
त्वं वै प्रभार्चिः पुरुषः सर्वस्य हृदि संश्रितः।
अणिमा महिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १४ ॥
त्वयि बुद्धिर्मतिर्लोकाः प्रपन्नाः संश्रिताश्च ये।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसत्वा जितेन्द्रियाः ॥ १५ ॥

यस्त्वां ध्रुवं वेदयते गुहाशयं

प्रभुं पुराणं पुरुषं च विग्रहम् ।

हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं

स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥१६॥

विदित्वा सप्तसूक्ष्माणि षडङ्गं त्वां च मूर्तितः ।

प्रधानविधियोगस्थस्त्वामेव विशते बुधः ॥ १७ ॥

इस प्रकार स्तुति करने से शंकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए। उसी समय श्रीकृष्णजी के ऊपर सुगन्धित पुष्पों की वर्षा होने लगी और सुखद वायु बहने लगी। शिवजी ने श्रीकृष्णचन्द्र-जी से कहा कि मैं आपकी भक्ति से परम सन्तुष्ट हूँ। अतः आठ वर देने के लिये तैयार हूँ। आपको जो माँगना हो, माँग लीजिये।

श्रीकृष्णजी ने नतमस्तक से प्रणाम करके कहा—"हे महाराज! आपके दर्शन से ही मैं कृतकृत्य हो गया। परन्तु आपकी आज्ञा के पालन करने के लिये मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि मेरी धर्ममें दृढ़ बुद्धि हो, रणमें सब शत्रुओं का विनाश हो, यश की वृद्धि हो, अलौकिक बल प्राप्त हो, योग साधन की ओर प्रवृत्ति रहा करे, आपमें अटल भक्ति हो, आपका सान्निध्य प्राप्त हो और एक सहस्र पुत्र उत्पन्न हों।"

शिवजी ने बड़ी प्रसन्नता के साथ ये सब वर दे दिये। तब

पार्वतीजी ने कृपा करके कहा कि हे कृष्ण! मुझसे भी जो चाहो, आठ वर माँग लो। मैं प्रसन्नतापूर्वक उन वरों को दूँगी।

कृष्णजी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि हे मातः! मुझे ये वर दीजिये कि (१) मुझे कभी ब्राह्मण के ऊपर कोप करने का अवसर न प्राप्त हो। (२) मेरेपर पूज्य पितरों की प्रसन्नता हो। (३) मेरे सौ लड़के हों। (४) मुझे सांसारिक भोग सदा प्राप्त होता रहे। (५) मेरे कुल में कभी आपस में वैमनस्य न हो। (६) मातायें प्रसन्न रहें। (७) हृदय में सदा शान्ति बनी रहे और (८) सब भार्याओं के ऊपर मेरा समान स्नेह रहा करे। जगदम्बा ने ये सभी वरदान बड़ी प्रसन्नता के साथ दे दिये। और कहा कि आपकी १०१६ भार्यायें आपसे सदा प्रेम रखेंगी। आपके कुल के लोगों में सदा अटूट स्नेह बना रहेगा। आपके शरीर के सौन्दर्य की दिन २ वृद्धि होती रहेगी।

ऐसे वर देकर पार्वतीजी और शिवजी अपने गणों के साथ अन्तर्धान हो गये। श्रीकृष्ण भी मनोवांछित वर पाकर अपनी नगरी को चले गये और वहां सुखपूर्वक अनेक प्रकार के भोग भोगने लगे। समय आनेपर जाम्बवती के अनेक पुत्र उत्पन्न हुए और सब प्रकार आनन्द हो गया। भगवान् शंकर की दया से सब कुछ प्राप्त हो सकता है। महाभारत में मुनिवर व्यासजी ने कहा है कि शिवजी के समान कोई देवता नहीं है, वे ही सांसारिक जीवों को सद्गति दे सकते हैं। कल्याण और सुख देने में शिवजी से बढ़कर कोई

दयालु नहीं है और युद्ध करने में उनके समान कोई पराक्रमी भी नहीं है।

"नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसमा गतिः ।
नास्ति शर्वसमो दाने नास्ति शर्वसमो रणे ॥"

(म० भा० अनुशा० प० १ अ०)

छठवाँ रत्न

नर-नारायण

प्राचीन काल में भगवान् के अंश नर और नारायण ने तपस्या करने की अभिलाषा से बद्रिकावन में आश्रम बनाया। उन्होंने भगवान् शंकर से प्रार्थना की कि आप इस पार्थिव लिंग में विराजमान हों। यह प्रार्थना भगवान् शिवजी ने स्वीकार करली और नर-नारायण-निर्मित लिंग में प्रविष्ट होकर उसमें निवास करने लगे।

नर-नारायण परमश्रद्धा के साथ उस लिंग की षोडशोपचार से आराधना करते हुए कठिन तपस्या करने लगे। वे निराहार तथा जितेन्द्रिय होकर रातदिन भगवच्चरण का चिन्तन करते थे, इसके अतिरिक्त और कुछ उनका व्यापार ही नहीं था।

इस प्रकार तप करते-करते बहुत समय व्यतीत हो गया। तब श्रीआशुतोष भगवान् प्रकट होकर बोले कि हे नर-नारायण! मैं तुम लोगों की तपस्या से परम प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो; वह वर माँगो लो। मैं बहुत प्रसन्नतापूर्वक दूँगा।

शङ्कर भगवान् के ऐसे वचन सुनकर नर और नारायण ने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि हे देवेश! हे जगन्निवास! यदि आप हमारे ऊपर प्रसन्न हैं, तो यही वर दीजिये कि सदा इस तीर्थ में आपका निवास हो और आप अपने रूप से इस क्षेत्र में रहते हुए भक्तों की पूजा स्वीकार कर उन्हें संसार-बन्धन से मुक्त करें। भगवान् सदाशिव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करली और ज्योतिः-स्वरूप हो स्वयं उस तीर्थ में निवास करने लगे।

यह ज्योतिर्लिंग केदारेश्वर के नाम से विख्यात हुआ। उस स्थान पर जाकर अनेक देवता तथा असंख्य मुनियों ने भगवान् की आराधना की और अभिलषित फल पाया।

एक बार पाण्डव लोग इस पवित्र बद्रिकाश्रम में गये। भगवान् शिव ने उन्हें वहाँ देखा तो माया से महिष का रूप धारण कर लिया और वहाँ से चलने लगे; परन्तु पाण्डवों ने भगवान् को पहचान लिया और उन्हें पकड़कर परम भक्तिपूर्वक स्तुति की। उनकी भावमयी स्तुति सुनकर भक्तवत्सल भगवान् प्रसन्न हो गये और अपना रूप धारण कर प्रकट हुए। भगवान् ने कहा कि मैं तुम लोगों से बहुत

प्रसन्न हूँ, तुम्हें जो वर माँगना हो माँगो। पाण्डवों ने भगवान् की स्तुति कर के उनसे अनेक वर प्राप्त किये और संसार में अनेक प्रकार के सुख भोगकर अन्त में परमपद को प्राप्त हुए।

इन *केदारेश्वर के दर्शनों के लिये अब भी असंख्य स्त्री-पुरुष जाते हैं। योगियों की सिद्धि का तो यह प्रधान स्थान है। यहाँ पर पिण्ड-दान करने से पितरों का उद्धार होता है। इनके पूजन का माहात्म्य स्कन्द-पुराण में इस प्रकार लिखा है:—

"यः पूजयति केदारं स गच्छेच्छिवमन्दिरम् ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पितॄनुद्दिश्य भारत ॥
ददाति श्राद्धं विधिवत्तस्य प्रीताः पितामहाः ।"

(रेवाख० १२३-१७)

सातवाँ रत्न

ईश्वरावतार भगवान् परशुराम ।

त्रेतायुग में पृथ्वी का भार हरने के लिये परशुराम के रूप में भगवान् ने अवतार लिया था। वे बड़े ही ओजस्वी एवं सर्वगुण-सम्पन्न थे। पिता की भक्ति तो उनसे बढ़कर और

* हरिद्वार से १६४ मील पर केदारेश्वर महादेव हैं ।

कहीं पायी ही नहीं जा सकती। पितृ-आज्ञा के पालन के लिये उन्होंने अपनी माता तक का सिर काट लिया था। इसी भक्ति से प्रसन्न होकर उनके पिता ने उन्हें वर दिया था कि संसार का कोई भी राजा तुम्हें नहीं जीत सकेगा।

एक वार हैहय-कुल में उत्पन्न सहस्रबाहु ने कामधेनु की लालच से परशुराम के पिता यमदग्नि का सिर काट लिया। अपने पिता का वध देखकर उन्होंने सहस्रार्जुन के हज़ार के हज़ारों हाथों को काट डालने की प्रतिज्ञा की। इसी प्रतिज्ञा के अनुसार वे आँखें लाल कर गरजते हुए सहस्रार्जुन के समीप पहुँचे और उसके हज़ार बाहुओं को उसी प्रकार काट डाला, जिस प्रकार हाथी कमलवन में पहुँच कर हज़ारों कमल-नालों को एक क्षण में अनायासही छिन्न-भिन्न कर डालता है। परशुराम ने संग्रामभूमि में उसे रथ से नीचे गिरा दिया। इतने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने इक्कीस बार भूमण्डल के समस्त क्षत्रियों का विनाश किया। यहाँ तक कि पृथ्वी में क्षत्रियों का कहीं नाम तक नहीं रह गया। गर्भ में जो बालक रह गये थे, उन्हीं से आज-कल के क्षत्रियों का वंश चल रहा है।

परशुरामजी को इन क्षत्रियों के वध करने का पाप लगा। उस पाप के प्रायश्चित्त के लिये उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया। उस यज्ञ में दान कर सारी वसुन्धरा उन्होंने कश्यप ऋषि को दे डाली। और असंख्य ब्राह्मणों को हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, सोना, चाँदी आदि दिये। यह सब करने पर भी परशुरामजी को

अनेक प्राणियों के वध-जनित पाप से मुक्ति नहीं मिली । इससे वे रैवतक पर्वत पर गये और वहाँ बहुत समय तक उग्र तप करते रहे। कठिन तप करने पर भी हत्या से छुटकारा न मिलने पर परशुराम ने महेन्द्र, मलय, सह्य, हिमालय आदि पवित्र पर्वतों की यात्रा की । पत्पश्चात् नर्मदा, यमुना, चन्द्रभागा, गंगा, इरावती, वितस्ता, चर्मण्वती, गोमती, गोदावरी आदि पुण्य-सलिला नदियों में श्रद्धापूर्वक स्नान किया। इसीके साथ-साथ गया, कुरुक्षेत्र, नैमिष, पुष्कर, प्रभास आदि तीर्थों का सेवन किया; पर हत्या-जनित पाप से मुक्ति नहीं ही मिली ।

अपने इस कठिन परिश्रम को निष्फल देखकर श्रीपरशुराम-जी अपने मन में सोचने लगे कि मैंने तीर्थों का सेवन किया, पवित्र नदियों के जल से अपने पापों को धोने का प्रयत्न किया, घोर तपस्या भी की; परन्तु मुझे हत्या से छुटकारा नहीं मिला। इससे ज्ञात होता है कि आजकल ये सब निःसत्त्व हो गये हैं। अतएव इनका सेवन करना व्यर्थ है। मैंने अपने शरीर को व्यर्थ ही कष्ट दिया। वे इस प्रकार दुःखित हो ही रहे थे कि इतने में देवर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे। उन्हें सादर अभिवादन कर परशु-रामजी कहने लगे कि हे देवर्षि ! पिता की आज्ञा से मैंने अपनी माता का वध किया और पिता के वध करनेवालों से बदला लेने के लिये भूमण्डल के समस्त क्षत्रियों का विनाश कर डाला। यह सब करने पर मुझे हत्याजनित पाप का भय हुआ, उसके निवारण के लिये मैंने अनेक तप और तीर्थ किये;

पर अबतक किसीसे मेरी हत्या का प्रायश्चित्त नहीं हुआ ।

नारदजी बोले कि महाकालवन * में ब्रह्महत्या-जनित पाप का निवारण करनेवाला सर्व-सिद्धि-दायक 'जटेश्वर' नामक शिवजी का एक महालिंग है। हे परशुराम! तुम वहाँ शीघ्र जाओ और उनकी आराधना करो। उनके प्रसाद से तुम सब पापों से मुक्त हो जाओगे।

नारदजी के उपदेशानुसार परशुरामजी उसी समय, उनको प्रणाम कर सर्वकामना-परिपूरक पवित्र महाकालवन को चल दिए। वहाँ पहुँचकर चिरकाल तक श्रीजटेश्वर महादेव की आराधना की। उनकी एकनिष्ठ आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने उन्हें दर्शन दिये। उनके परमानन्दप्रद दर्शन पाकर परशुरामजी मुग्ध हो गये और स्तुति करने लगे कि हे महाराज! आप शरणागतवत्सल हैं, दीनजनों के हित करने के लिये आप अनेक रूप धारण करते हैं। हे करुणा-वरुणालय! मैं इस समय हत्या-जनित पाप से दबा जा रहा हूँ। इससे मेरा उद्धार कीजिये। यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे यही वर दीजिये कि आपके चरण-कमलों में मेरा अविचल एवं प्रगाढ़ प्रेम बना रहे।

* महाकालवन, अवन्तिका (उज्जैन) को कहते हैं। उज्जैन मालवा में B. B. & C. I. रेलवे का स्टेशन है। काशी में, परशुरामेश्वर, महादेव महल्ला नंदनसाहु में हैं।

ऐसी स्तुति से भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर उन्हें हत्या के पाप से मुक्त कर दिया और कहा कि आज से इस लिंग का नाम तुम्हारे ही नाम से विख्यात होगा। इसे लोग अब 'रामेश्वर' कहेंगे। जो लोग भक्तिपूर्वक रामेश्वर की पूजा करेंगे, उनके जन्म भर के पाप जल जायँगे। हजारों ब्रह्महत्यायें करने का भी पाप श्रीरामेश्वरजी के दर्शन करने से विनष्ट हो जायगा। स्कन्दपुराण के आवन्त्य-खण्ड में इसका बड़ा माहात्म्य लिखा है:—

"भक्त्या ये पूजयिष्यन्ति देवं रामेश्वरम्परम् ।
आजन्मप्रभवं पापं तेषां नश्यति तत्क्षणात् ॥ ४७ ॥
यच्चापि पातकं घोरं ब्रह्महत्यासहस्रकम् ।
तत्पापं विलयं याति रामेश्वरसमर्चनात् ॥ ५ ॥"

(अ० च० लि० मा० २९ अ०)

आठवाँ रत्न

ब्रह्माजी ।

एक बार सुमेरु पर्वत के शिखर पर बैठे हुए महर्षियों ने ब्रह्माजी से पूछा कि हे भगवन्! संसार का आदि कारण, परमतत्त्व और अव्यय कौन है? ब्रह्माजी शिवजी की माया से मोहित होकर अहंकार पूर्वक बोले हे महर्षिगण! मैं ही संसार का आदिकारण,

स्वयम्भू, अनादि, अव्यय, सब देवों का देव तथा एक ईश्वर हूँ। मुझको पूजकर भक्तगण मुक्त होजाते हैं। संसार में मुझसे बढ़कर कोई नहीं है। मैं ही तीनों लोकों का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता हूँ। इतने में प्रकट होकर और आत्माभिमानी ब्रह्मा से त्रिलोचन भगवान् ने क्रुद्ध होकर कहा—हे ब्रह्मन्! इस प्रकार अज्ञानी की भाँति क्या बक रहे हो? ये सब गुण आपमें नहीं हैं। बल्कि मैं समस्त संसार का आदि कारण हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई इस संसार का जीवन नहीं है। क्योंकि मैं ही परमात्मा की परमज्योति और शरणागतों की परम गति हूँ। आप तो मेरी ही प्रेरणा से संसार के स्रष्टा (१) कहे जाते हैं।

इस प्रकार अज्ञानता पूर्ण ब्रह्मा की बातें सुनकर दोनों देवों (ब्रह्मा-शिव) के पास चारों वेद आ पहुँचे। उनमें से ऋग्वेद बोला—जिसके हृदय में समस्त चराचर निवास करते हैं और जिससे सबकी उत्पत्ति होती है। वह सर्व-श्रेष्ठ, परमतत्त्व, देवों के देव महादेव हैं।

यजुर्वेद—जो ईश्वर समस्त यज्ञों द्वारा पूजे जाते और योगी लोग जिनका ध्यान करते हैं। वह देवों के देव पिनाकी महादेव हैं।

सामवेद—यह ब्रह्माण्ड जिसके द्वारा चलता है। जिस परमतत्त्व को योगी लोग जानते हैं। वह सर्व-श्रेष्ठ और अनादि देवता शंकर भगवान् ही हैं।

---

(१) अहमेव परं ज्योतिरहमेव परा गतिः।
मत्प्रेरितेन भवता सृष्टं भुवनमंडलम् ॥ १० कू० पु० अ० ३१ ॥

अथर्ववेद—जिस देवेश को महात्मा लोग पूजते और समस्त देवता दिव्य दृष्टि से देखते हैं। भवसागर से पार करनेवाले रुद्ररूपधारी वह महेश्वर ही हैं।

इस प्रकार समस्त वेदों का कथन सुन ब्रह्माजी हँसकर बोले—सब संग से रहित यह शिव परब्रह्म कैसे हो सकता है, जो उन्मत्त रुद्रगण और अपनी स्त्रीके साथ निर्लज्जभाव से विहार करता है। यह सुनते ही प्रणव-स्वरूप वेद भगवान् बोले-हे ब्रह्मन्! यह भवानी-पति महेश्वर ही सनातन, स्वयं प्रकाश-मान और सृष्टि के आदि कारण हैं। ये स्वयं अपने आप में रमण करते हैं। यज्ञमूर्त्ति, अजन्मा भगवान् शंकर की माया से रची हुई भगवती पार्वतीजी जगज्जननी हैं। इस प्रकार वाद-विवाद हो ही रहा था कि आकाशमण्डल से एक दिव्य तेजोमय ज्योति समस्त भूमण्डल को देदीप्यमान करती हुई आविर्भूत हुई और उस दिव्य मूर्त्ति का पंचम शिर चमकने लगा।

उस समय भी ब्रह्मा ने श्रीशंकरजी की निन्दा की और बोले-हे महादेव! मैं ही संसार का आदि स्रष्टा हूँ। आप भी मेरे तेज से उत्पन्न हुए हैं; इसलिये मेरी शरण में आइये। ब्रह्मा के ऐसे सगर्व वचन सुनकर महेश्वर प्रभु ने कालभैरव को भेजा। ब्रह्मा और भैरव में घोर युद्ध हुआ। कालभैरव ने ब्रह्मा का पाँचवां मुख काट डाला। इस प्रकार महादेव द्वारा सिर काटे जाने पर ब्रह्माजी ने मरकर योग-विद्या के प्रभाव से फिर जीवन प्राप्त कर लिया।

इसके बाद ब्रह्माने महादेवी भवानी के साथ विराजमान उन शंकर भगवान् को देखा, जो व्याघ्रचर्म पर बैठे, दिव्य माला पहने, चन्द्रकला से सुशोभित शिरवाले, कोटि सूर्य के समान प्रकाशित, जटाजूट बनाये, हाथ में डमरू और त्रिशूल धारण किये, समस्त अंगों में श्वेतभस्म धारण किये, नाग-यज्ञोपवीत पहने थे, जिनको योगेश्वर लोग हृदय में देखते रहते हैं, ऐसे आदि ब्रह्म महादेव के दिव्यलिंग का दर्शन करने से ब्रह्माजी सन्तुष्ट हो गए और इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगेः—

"नमो देवाय महते महादेव्यै नमो नमः ।
नमः शिवाय शान्ताय शिवायै सततं नमः ॥१॥
ॐ नमो ब्रह्मणे तुभ्यं विद्यायै ते नमो नमः ।
महेशाय नमस्तुभ्यं मूलप्रकृतये नमः ॥२॥
नमो विज्ञानदेहाय चिंत्यायै ते नमो नमः ।
नमोऽस्तु कालकालाय ईश्वर्यै ते नमो नमः ॥३॥
नमो नमोऽस्तु रुद्राय रुद्राण्यै ते नमो नमः ।
नमो नमस्ते कालाय मायायै ते नमो नमः ॥४॥
नियन्त्रे सर्वकार्य्याणां क्षोभिकायै नमो नमः ।
नमोऽस्तु ते प्रकृतये नमो नारायणाय च ॥५॥
योगदाय नमस्तुभ्यं योगिनां गुरवे नमः ।
नमः संसारवासाय संसारोत्पत्तये नमः ॥६॥

नित्यानन्दाय विभवे नमोऽस्त्वानन्दमूर्त्तये ।
नमः कार्यविहीनाय विश्वप्रकृतये नमः ॥७॥
ॐकारमूर्त्तये तुभ्यं तदन्तःसंस्थिताय च ।
नमस्ते व्योमसंस्थाय व्योमशक्त्यै नमो नमः ॥८॥

(कूर्मपुराण उ० ३१ अध्याय)

इस सोमाष्टक-स्तोत्र से प्रसन्न होकर श्रीशंकरजी ने पृथ्वी पर दण्ड के समान गिरे हुए ब्रह्मा को अपने करकमलों से उठाकर हृदय से लगा लिया और प्रेमसे गद्गद स्वर में काल भैरव से बोले कि ये ही परमपुरुष भगवान् संसार में सर्वपूज्य गुण में बड़े तुम्हारे पितास्वरूप हैं और आत्मा द्वारा तुम्हारी रक्षा करने योग्य हैं। तुम्हें ब्रह्मा का सिर नहीं काटना चाहिये। अब यह उचित है कि उसे इनके धड़ से जोड़ दो और इस ब्रह्महत्या के दोष से छूटने के लिये संसार को अपना व्रत दिखलाते हुए, भिक्षाटन किया करो और देव ब्राह्मणों की सेवा करो।

यह कहकर भगवान् शंकरजी अपने प्राकृतिक पद (दिव्य लोक) को चले गये। इसके बाद एक देववाणी हुई कि हे भैरव! भगवान् कपर्दी हाथ में ब्रह्मा का सिर लिये कालभैरव का रूप धारण करके जब तक ये काशी पुरी में जायेंगे, तबतक त्रिशूलपाणी के पीछे २ जाओ। इस विधि से मेरी आज्ञा के अनुसार त्रिभुवन में

विचरो । जब देवदेव नारायण भगवान् का दर्शन करोगे, तब वे पापोद्धार का उपाय बतायेंगे । भगवान् भैरव यह देववाणी सुनकर तीनों लोक में भ्रमण करने लगे। चारो ओर देव-दानवों के लोक में भ्रमण करते हुए शूलपाणि भैरव, विष्णु भगवान् के उस सदन में पहुँच कर भीतर जाने लगे, जहाँ लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णजी विराजमान थे । बीच ही में द्वारपाल ने उन्हें रोका और कहा कि शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये पीताम्बर-विभूषित यह विष्णु भगवान् का यह भवन है । विना आज्ञा क्यों भीतर घुसे जा रहे हो। तब कालभैरव ने द्वारपाल को मारडाला तथा अन्यान्य संरक्षकों के साथ अन्तः पुर में प्रवेश करने के निमित्त द्वन्द्व युद्ध किया ।

उस समय विष्णु के अंश से उत्पन्न "कालवेग" नामक विष्णुपुरुष ने प्रज्वलित अग्नि के समान तीक्ष्ण सुदर्शन चक्र चलाया। इसके बाद कालभैरव ने चक्रको व्यर्थ कर उसके हृदय में प्रलयाग्नि के समान अपना त्रिशूल चलाया, जिससे वह पृथ्वी पर कटकर गिर पड़ा और प्राण त्यागकर शिव-लोक चला गया। इधर कालभैरव अपने गणों समेत अन्तःपुर में चले गये । तब नारायण ने संसार के मूलकारण भगवान् भैरव को जानकर अपने ललाट से रुधिर निकाल उन्हें भिक्षा के रूप में दिया और कहा कि हे अधिक तेजस्वी भैरव ! आपने किस लिये ब्रह्मा के इस कपाल को धारण किया है ? तब कालभैरव ने सब वृत्तान्त कह सुनाया ।

इसके बाद अच्युत भगवान् ने ब्रह्महत्या को बुलाकर कालभैरव को छोड़ने की प्रार्थना की । परन्तु जब विष्णु के कहने पर भी ब्रह्महत्या ने उनका पीछा न छोड़ा। तब जगद्योनि शंकर का बहुत देर तक ध्यान करके वह बोली कि हे भगवन् ! आप उस दिव्य वाराणसी पुरी में जाइये, जहाँ श्रीविश्वनाथ जी समस्त पातकों को नाश करते हैं। जहाँ समस्त तीर्थ, देवता तथा साधु-महात्मा संसार की भलाई के लिये भगवान् की सेवा करते हैं।

कुछ समय बाद नारायण भगवान् शिव-नृत्य देखने की इच्छा से दिव्य रूप धारणकर शिवपुरी में गये, वहाँ आते हुये विष्णु भगवान् को देखकर शंकरजी बारम्बार नृत्य करने लगे उस समय ब्रह्महत्या हाहाकार करके दुःखित हो पाताललोक को चली गयी। इधर शिवजी ने वह कपाल अपने गणों के आगे रक्खा। इसके बाद उसको जीवित होने का वरदान दिया। तब से वह संसार में पूजनीय हुआ। जो मेरे इस उत्तम वेश को सदा स्मरण करता है । उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं। इस श्रेष्ठ तीर्थ में विधिवत् पूजन तथा पितरों का तर्पण करके मनुष्य ब्रह्महत्या से भी छूट जाता है। इस लिये संसार को विनाशी जानकर तुम काशीपुरी में निवास करो यहाँ मरने पर भगवान् तारक मन्त्र के उपदेश से प्राणियों को मुक्ति देते हैं। ऐसा कह, भगवान् शंकरजीने विष्णु को हृदय से लगाया और अपने प्रमथगणों के साथ वहीं अंतर्धान हो गये

भगवान् विष्णुजी शिवजी से अपने गण को पाकर चुपचाप अपने लोक को चले गये ।

"एतद्वः कथितं पुण्यं महापातकनाशनम् ।
*कपालमोचनं तीर्थं स्थाणोः प्रियकरं शुभम् ॥१०७॥"
(कूर्म पु० ३१ अध्याय)

नवाँ रत्न

कार्तिकेय-गणेश।

एक वार स्वामिकार्तिकेय और गणेश, ये दोनों कुमार शिवजी के पास जाकर अपने विवाह के लिये विवाद करने लगे कि सर्वप्रथम मेरा विवाह हो। दोनों के परस्पर विवाद के अनन्तर दोनों कुमारों के लिये श्रीशिव-पार्वती ने यह निश्चय किया कि दोनों में सबसे पहले उसीका विवाह होगा, जो पृथ्वी की परिक्रमा करके सर्वप्रथम आ जाय। इस प्रतिज्ञा को स्वीकार करके कुमार कार्तिकेय तो पृथ्वी-प्रदक्षिणा के निमित्त उसी समय चल दिये; परन्तु वेचारे गणेशजी लम्बोदर होने के कारण सहसा वैसा करने में बिलकुल असमर्थ रहे। अतएव उन्होंने शास्त्रानुकूल जगत् के माता-पिता परमेश्वर गिरिजा-

---

* काशी की भावपुरी में यह कपालमोचन तीर्थ है।

शिव की ही सात बार वहीं पर प्रदक्षिणा करली और उनसे बोले कि अब आप लोग हमारा विवाह शीघ्र करदें। पार्वतीजी ने कहा—तुम्हारा विवाह पहले तब होगा जब स्कन्द से पहले पृथ्वी की परिक्रमा कर आओगे। तब गणेशजी क्रोध करके बोले कि आप लोग ऐसा क्यों कहते हैं? क्या आपकी परिक्रमा से पृथ्वी की परिक्रमा नहीं हुई? वेद और शास्त्रों में लिखा है कि माता पिता का पूजन करके परिक्रमा करने से पृथ्वी-परिक्रमा करने का फल मिलता है, क्या यह बात सत्य नहीं है? इस प्रकार गणेशजी की शास्त्रसम्मत बात सुन कर शंकर-पार्वती ने गणेश जी का विवाह कर दिया। जब कुमार पृथ्वी-परिक्रमा करके कैलास पर्वत पर आये, तब नारदजी ने उन्हें अपने निकट बुलाकर श्रीगणेशजी के शुभ विवाह की चर्चा की। यह सुनकर कुमार को बड़ा बुरा मालूम हुआ। वे शीघ्रही वहाँ से उठकर, शिव-पार्वती के मना करने पर भी उनको प्रणाम करके, क्रौंच पर्वत पर चले गये*। कुछ दिनों बाद जब पार्वतीजी से कुमार के वियोग का दुःख न सहा गया, तब उन्होंने देवर्षि नारद को कुमार के पास भेजा।

नारदजी ने क्रौंच पर्वत पर जाकर कुमार को बहुत समझाया

---

* बल्लरी स्टेशन से २५ मील, गुंटकल जंक्शन से ५५ मील पश्चिम की ओर गादिनूर नामक स्टेशन है। जिससे १६ मील की दूरी पर कुमारस्वामी नामक ग्राम है।

और वहां से उनको लौटाने का प्रयत्न भी किया; परन्तु कुमार ने एक न सुनी और नारद को अकेला लौटा दिया। यहाँ पार्वतीजी कुमार के बिना व्याकुल हो रही थीं। नारदजी के समझाने पर पार्वतीजी शिवजी को साथ लेकर क्रौंच पर्वत पर गयीं। माता-पिता का आगमन सुनकर कुमार कार्तिकेय क्रौंच पर्वत से तीन योजन दूर चले गये। शिव-पार्वती *क्रौंच पर्वत पर जाकर संसार की भलाई के लिये दोनों ज्योतिःस्वरूप लिंग के रूपमें हो गये। पुत्रस्नेह से वे दोनों कुमार को देखने के निमित्त प्रति अमावस्या और पूर्णिमा को जाया करते थे।

जो मनुष्य उस ज्योतिःस्वरूप का दर्शन करता है, वह निःसन्देह अपने मनोरथ को पाता है। और उसे फिर कभी गर्भ का दुःख नहीं भोगना पड़ता। अन्त में वह परम आनन्द को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

"दुःखं च दूरतो याति शुभमात्यन्तिकं लभेत् ।
जननीगर्भसम्भूतं कष्टं नाप्नोति वै पुनः ॥ २१ ॥

(शिव० रुद्र० सं० ४ अ० १६)

---

* यह तीर्थ गंटुर से ४५ मील वो विनूकौंड Vinukond मारकपुर Markpur road. से ८८ मील पर है M. & S. M रेलवे से जाना होता है।

नोट—यात्रियोंको भोजन-सामग्री साथ ले जानी चाहिये।

दसवाँ रत्न

शेषावतार श्रीलक्ष्मणजी

जब मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी अपनी साध्वी पत्नी सीता के हरण करनेवाले रावण को दण्ड देने के लिये वानरी सेना लेकर लङ्कापर जा चढ़े तो वहां राक्षसों में और इन लोगों में घोर युद्ध हुआ। युद्ध में श्रीरामचन्द्रजी की विजय होते देख, मेघनाद ने निकुम्भिला शिला में यज्ञ करके दैवास्त्र प्राप्त करना चाहा। उसे पा जाने पर संसार में उसको कोई नहीं हरा सकता था। विभीषण को इस बात का पता लग गया और उन्होंने यह सब वृत्तान्त श्रीरामचन्द्रजी को सुनाया। श्रीरामचन्द्रजी ने उसको मारने के लिये लक्ष्मणजी को भेजा।

लक्ष्मणजी उस स्थान पर गये, जहाँ वह एकान्त में यज्ञ कर रहा था। उसका यज्ञ समाप्त होनेवाला ही था कि इतने में एकाएक लक्ष्मणजी उसपर बाण बरसाने लगे। उसके पास उस समय न तो हथियार थे, न युद्ध की और ही कुछ सामग्री थी; किन्तु वह उस गुफा से निकल आया और किसी प्रकार युद्ध करने लगा। युद्ध में लक्ष्मणजी ने उसे मार डाला। इधर रामचन्द्रजी ने रावण तथा उसके साथी असंख्य राक्षसों का संहार करके लंका के राज्य पर विभीषण का अभिषेक कर दिया। यह सब हो जाने पर

सीताजी को लेकर भगवान् श्रीरामजी अयोध्या चले गये और वहाँ आनन्दपूर्वक राज्य करने लगे।

थोड़े ही समय के अनन्तर लक्ष्मणजी को राजयक्ष्मा रोग ने धर दबाया। वे दिन-दिन सूखने लगे और उनका शरीर बहुत ही क्षीण हो गया। अनेक उपचार किये; पर किसी से रोग की निवृत्ति नहीं हो सकी। श्रीरामचन्द्रजी अपने परम सहायक तथा प्रेमपात्र भाई की ऐसी दुरवस्था देख कर बहुत चिन्तित हुए और कुलगुरु वसिष्ठजी से विनयपूर्वक इस रोग का कारण पूछने लगे।

वसिष्ठजी ने कहा कि हे रामजी! इन्द्र को जीतनेवाले परम पराक्रमी वीर मेघनाद का इन्होंने तपस्या करते समय वध किया है। उस समय मेघनाद युद्ध से बिल्कुल अलग रहकर यज्ञ कर रहा था। ऐसे समय उस ब्राह्मण को मारकर उन्होंने बड़ा भारी पातक किया है। उसी महापातक से इन्हें राजयक्ष्मा रोग ने आ घेरा है। इससे छुटकारा मिलना कोई साधारण बात नहीं है। यदि लक्ष्मणजी किसी पावन तीर्थ में जाकर कुछ दिन शिवार्चन करें तो इनका यह भयावह रोग दूर हो सकता है। शिवार्चन ही इस पातक का एकमात्र प्रायश्चित्त है।

इस प्रकार वसिष्ठजी की बात सुनकर रामचन्द्रजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अपने गुरुवर से पूछने लगे—हे महाराज! आपके कथन से मेरे मन में बड़ा सन्देह उत्पन्न हो गया है।

रावण, मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि तो बड़े पातकी थे, गौ और ब्राह्मणों के वध करने में उन्हें लेशमात्र भी दया नहीं आती थी। देवता, मुनि और सज्जनों से उनका स्वाभाविक वैर था। दूसरे की स्त्रियों का हरण करना प्रतिदिन का काम था। दूसरे की धरती, धन और धान्य को लूट लेना ही उनका एकमात्र व्यापार था। हे सर्वज्ञ! ऐसे पातकियों को मारने से हम लोगों को पाप क्यों लग गया?

वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को समझाते हुए कहा—हे महाबाहो रामजी! रावण आदि राक्षस यद्यपि बड़े दुराचारी थे, संसार को अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाते थे; पर थे तो वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न? पतित से भी पतित ब्राह्मण इतर जाति का परम पूज्य देव होता है। ब्राह्मणगण परमात्मा की जङ्गम मूर्त्ति हैं। इसीसे वे 'भूदेव' कहे जाते हैं। उनके दर्शनों से पापों की राशि क्षण भर में उसी प्रकार भस्म हो जाती है, जैसे आग से रुई का ढेर। जहाँ ब्राह्मणों का आवागमन हुआ करता है, वहाँ सभी तीर्थों का निवास होता है। उन्हें जहां तक हो सके सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन करावे। दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु ब्राह्मणों को देवे, उनकी सङ्गति करने, उनकी पूजा करने और उन्हें तृप्त करने से घोर नरक की यातना सहनेवाले पितरों का भी उद्धार हो जाता है और वे उत्तम लोक को चले जाते हैं। इसलिये बहुत प्रयत्न करके ब्राह्मणों की परिचर्या करनी चाहिये। ब्राह्मण के दहिने पैर के

अगूठे में सब तीर्थ निवास करते हैं। ब्राह्मण के चरण की जितनी रेणु सिर पर धारण की जाती है, उतने ही हज़ार वर्ष मनुष्य स्वर्ग में निवास करता है। उनके चरणोदक की जितनी कणिकायें मनुष्य के शरीर पर पड़ जायँ, उतने ही हज़ार वर्ष वह ब्रह्मलोक में परमानन्द भोगता है। श्राद्ध में ब्राह्मणों को भोजन कराना अति पुण्यदायक और पितरों को तृप्त करनेवाला है। महामूर्ख और ज्ञानरहित भी ब्राह्मण संसार का पूज्य होता है, फिर वेद-वेदाङ्गपारगामी विद्वान् ब्राह्मण का तो पूछना ही क्या?

जो लोग ब्राह्मणों को प्रिय हैं। जो लोग ब्राह्मणों की पूजा करते हैं, उनका इस संसार में फिर आगमन नहीं होता। ब्राह्मणों को प्रणाम करनेवाले लोग मनुष्य नहीं, साक्षात् देवता हैं। विप्रों का चरणोदक परम पवित्र और पुण्यदायक होता है। उसके ग्रहण करने से सब तरह की आधि-व्याधि नष्ट हो जाती है। जिस तरह ब्राह्मणों के प्रसाद से सब सिद्धियाँ प्राप्त होता हैं उसी प्रकार ब्राह्मणों के क्रोध से सर्वस्व नष्ट भी हो जाता है। ब्राह्मण चाहे *विद्वान् हो या मूर्ख वह साक्षात् भगवान्† का रूप ही है। इसलिये ब्राह्मण का कभी अपमान न करे। संसार-ताप से तप्त प्राणियों को एकमात्र ब्राह्मण ही शान्ति दे सकता है।

---

* अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः।

† इन्द्र कुलिश मम शूल विशाला। कालदण्ड हरिचक्र कराला।
जो इनके मारे ना मरई। विप्ररोष पावक सो जरई ॥रामायण उ॰ कां॰॥

जब तक इस लोक में गङ्गाजी की धारा बहती रहेगी, जब तक वेदों का घोष होता रहेगा और जब तक ब्राह्मणों की पूजा होती रहेगी, तब तक कलि का प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिये सब को चाहिये कि सदा ब्राह्मण की पूजा करें। कभी उनका अपमान न करें। ब्राह्मणों ही के कोप से देवराज इन्द्र के सिंहासन पर बैठा हुआ राजा नहुष अतिनीच सर्पयोनि में गिरा दिया गया था।

जो ब्राह्मण थोड़ा सा भी वेद और शास्त्र जानता है, उसके दर्शनमात्र से सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जहाँ वेदवक्ता विप्र निवास करता है, वहाँ सभी पुण्यक्षेत्र निवास करने लगते हैं। जहाँ शास्त्रवेत्ता ब्राह्मण रहता है, वहाँ साक्षात् विष्णु भगवान् रहते हैं। पुराणवक्ता विप्र जिस स्थान पर आता जाता है, वहाँ सभी तीर्थ और सभी देव अपना स्थिर स्थान बना लेते हैं। ब्रह्महत्या आदि महापातकों से मुक्ति पाने का उपाय विप्रों के चरण की सेवा ही है।

ब्राह्मणों की पूजा करके उनकी आज्ञा के अनुसार जो कार्य किया जाता, वह विधि-रहित होने पर भी पूर्ण होजाता है। ब्राह्मण की आज्ञा के बिना जो कार्य किया जाता, वह चाहे कितने भी परिश्रम से क्यों न किया गया हो, निष्फल ही हो जाता है।

हे महाराज राम! ब्राह्मण के वीर्य से चाण्डाली की योनि से उत्पन्न मनुष्य भी अवध्य होता है तो पुलस्त्य के पौत्र, सर्वशास्त्र-

पारङ्गत रावण के वध का पाप न लगे, यह सर्वथा असम्भव है। हे मर्यादापुरुषोत्तम ! यद्यपि आप अलेप और असङ्ग हैं, तथापि ब्राह्मणों और गौओं की रक्षा के लिये संसार में एक सुन्दर आदर्श उपस्थित करने के लिये, आपको इस पाप का प्रायश्चित्त करना उचित है। कुब्जाम्र नामक तीर्थ में जाने से ब्रह्महत्या-जनित पाप दूर हो जाता है। अतएव लक्ष्मण को उसीका सेवन करना चाहिये। वहाँ तप करने से लक्ष्मणजी का यह भयंकर रोग समूल नष्ट हो जायगा।

गुरुवर वसिष्ठजी के कथनानुसार लक्ष्मणजी कुब्जाम्र तीर्थ में गये। वहाँसे एक कोस की दूरी पर एक बहुत सुन्दर तपोवन था। उसके पास ही त्रैलोक्यपावनी, त्रिपथगा गङ्गा बह रही थीं। अनेक सिद्ध उस भूमि में बैठे परमाराध्य देव भगवान् शङ्कर का ध्यान कर रहे थे। वहीं एक सुन्दर और पवित्र स्थान में लक्ष्मणजी ने एक शिवलिङ्ग की स्थापना की। *वहाँ उन्होंने आहार-विहार का पूर्ण परित्याग कर, बारह वर्ष तक अपने मन की सभी वृत्तियों को लीन कर दिया और 'षडक्षर मंत्र' का जप करते रहे। सौ वर्षों तक उन्होंने केवल वायु पीकर देहरक्षा करते हुए घोर तपस्या की। तदनन्तर सौ वर्ष तक पत्र और फलों को खाते हुए, सब इन्द्रियों को वश में

---

* हरिद्वार से १४ मील पर 'लक्ष्मण झूला' के समीप यह लक्ष्मणेश्वर शिव हैं। इसी स्थान को 'कुब्जाम्र क्षेत्र' भी कहते हैं। काशी की पंच-कोशी में भी लक्ष्मणेश्वर शिव हैं।

किये एक पैर पर खड़े भगवान् शंकर का ध्यान करते रहे।

उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर अपनी कान्ति से सब दिशाओं को व्याप्त करते हुए भगवान् शंकर प्रगट हुए। उस समय वे नन्दी वृषभ पर आरूढ़ थे, उनका ललाट अर्धचन्द्र से सुशोभित हो रहा था, व्याघ्राम्बर से अपने शरीर को ढाँके हुए थे और सर्पों का यज्ञोपवीत कन्धे पर शोभित हो रहा था। इस तरह शिवजी आकर बोले—हे वत्स लक्ष्मण! मेरे आशीर्वाद से तुम सब पातकों से मुक्त हो गये। इस क्षेत्र में स्नान करने से तुम्हारा ब्रह्महत्या-जनित पाप दूर हो गया। अब तुम जाकर राज्य के सुख भोगो। अब से तुम्हारे शरीर में रोग का नाम भी नहीं रह जायगा। आज से मैं इसी लिंग में निवास करूँगा और इस लिंग का नाम तुम्हारे ही नाम पर 'लक्ष्मणेश्वर' होगा। ऐसा कहकर भगवान् शिवजी अन्तर्धान हो गये।

भगवान् से वर पाकर लक्ष्मणजी अपनी राजधानी अयोध्या को वापस चले गये और वहाँ भगवान् रामचन्द्रजी की सेवा का परम आनन्द लूटने लगे।

उस लक्ष्मणकुण्ड में स्नान और जप करने से अनन्त फल मिलते हैं और लक्ष्मणेश्वर भगवान् के दर्शन करने से सब पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। लक्ष्मणेश्वर से सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति होती है। मायापुरीमाहात्म्य में लिखा है:—

"गङ्गायाः पश्चिमे तीरे यत्र सिन्दूरवर्णका।
मृत्तिका वर्तते विप्र! तत्र लक्ष्मणकुण्डकम् ॥ २४ ॥

तत्र स्नात्वा च जप्त्वा च फलानन्त्यं लभेन्नरः ।
लक्ष्मणेश्वररुद्रोऽत्र दर्शनात् सर्वपापहा ॥ २५ ॥
यः स्नापयति तल्लिङ्गमम्बुना भक्तितत्परः ।
सर्वान् कामानवाप्नोति जलदानेन नारद ! ॥२६॥"

[मायापुरी-माहात्म्य २३ अ०]

ग्यारहवाँ रत्न

देवगुरु बृहस्पतिजी ।

संसार की सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्मा ने मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा आदि सात मानस पुत्र उत्पन्न किये। उनमें अङ्गिरा के एक आङ्गिरस नामक पुत्र हुए। वे शैशवावस्था में ही बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् थे। वे सब शास्त्रों के तत्त्व जाननेवाले, वेदों के पारङ्गत, बड़े रूपवान्, गुणवान् एवं शील-सम्पन्न थे। उन्होंने भगवान् शंकर की आराधना प्रारम्भ की। परमपावनी काशी नगरी में शिवलिंग की स्थापना कर वे घोर तपस्या करने लगे।

तपस्या करते हुए जब दस हज़ार वर्ष बीत गये, तब जगदीश्वर महादेव उस लिंग से प्रकट होकर कहने लगे कि मैं तुम्हारी तपस्या से परम प्रसन्न हूँ, अपना अभीष्ट वर माँगो।

अपने सामने उत्कृष्ट तेजोमय जटाजूटधारी, परम कल्याणकारी भगवान् शंकर की मूर्ति देखकर वे प्रसन्न वदन से स्तुति करने लगे—हेदेवदेव जगन्नाथ! आप त्रिगुणातीत, जरा-मरण से रहित, त्रिजगन्मय, भक्तों के उद्धार करनेवाले और शरणागत-वत्सल हैं। आपके दर्शनों ही से मैं कृतकृत्य होगया हूँ। मेरी सब कामनायें पूर्ण हो गयीं। आङ्गिरस की ऐसी स्तुति सुनकर भगवान् आशुतोष और भी प्रसन्न हुए और अनेक वर दिये। उन्होंने कहा—हे आङ्गिरस! तुमने बृहत् (बड़ा) तप किया है, इसलिये तुम इन्द्रादि देवों के पति होवोगे और तुम्हारा नाम 'बृहस्पति' होगा। तुम बड़े वक्ता और विद्वान् हो, इसलिये तुम्हारा नाम 'वाचस्पति' भी होगा। जो प्राणी तुम्हारे द्वारा स्थापित इस लिंग की आराधना करेगा, उसे मनोवाञ्छित फल मिलेगा। इस प्रकार अनेक वर देकर भगवान् शंकरजी ने ब्रह्मा, इन्द्र आदि सब देवताओं को बुलाया और ब्रह्माजी से कहा कि बृहस्पतिजी को सब देवों का आचार्य बना दो। ब्रह्माजी ने उसी समय बृहस्पति का देवाचार्य पद पर अभिषेक कर दिया। उस समय देवताओं की दुन्दुभियाँ बजने लगीं। इस प्रकार भगवान् शंकर के अनुग्रह से आङ्गिरस ने वह पद पाया, * जिससे बढ़कर स्वर्ग-लोक में कोई दूसरा पद हो ही नहीं सकता।

* ते ये शतं देवानामानन्दः स एक इन्द्रस्यानन्दाः श्रोत्रियस्य चाकामतस्य ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दः। स एको बृहस्पतेरानन्दः।

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

उनके संस्थापित * वृहस्पतीश्वर के पूजन से प्राणी प्रतिभा-सम्पन्न होजाता और अभीष्ट-सिद्धि होती है।

"गुरुपुष्यसमायोगे लिङ्गमेतत् समर्च्य च ।
यत्करिष्यति मनुजस्तत् सिद्धिमधियास्यति ॥६०॥
अस्य संदर्शनादेव प्रतिभा प्रतिलभ्यते ।
आराध्य धिषणेशं वै गुरुलोके महीयते ॥६१॥"

(काशीखण्ड अ० १७)

बारहवाँ रत्न

शुक्राचार्य ।

देवों और दैत्यों में सदा से युद्ध होता चला आया है। अधिकतर देवों को ही विजय प्राप्त होती है और वे ही दैत्यों को भगाकर स्वर्ग का उत्तम सुख भोगते हैं। इसका कारण यही है कि देवों के पक्ष में विष्णु; शंकर, इन्द्र आदि बड़ी बड़ी देवशक्तियाँ हैं।

एक बार दैत्यों के आचार्य शुक्र को अपने शिष्यों का पराजय देख कर बहुत दुःख हुआ और उन्होंने तपस्या के बल से देवों

* पावनपुरी काशी में वृहस्पतीश्वर संकटा घाट पर है।

को हराने की प्रतिज्ञा की और * अर्बुद पर्वत पर तपस्या करने चले । वहाँ भूमि के भीतर एक सुरंग में प्रवेश कर 'शुक्रेश्वर' नामक शिवलिंग की स्थापना की और प्रतिदिन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक षोडशोपचार से भगवान् शंकर की अर्चना करने लगे । अनाहार और अनन्यमनस्क होकर वे परम दारुण तप करने में लग गये । इस प्रकार तप करते-करते जब एक सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये तब श्रीमहादेवजी ने उन्हें दर्शन देकर कहा-हे द्विजोत्तम ! मैं तुम्हारी आराधना से परम सन्तुष्ट हूँ, जो वर माँगना हो, माँगो ।

शुक्राचार्य ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि हे देवदेव ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे † वह विद्या दीजिये कि जिससे मरे हुए जीव जी उठें । शंकर भगवान् ने प्रसन्नतापूर्वक वह वर देकर कहा कि तुम्हें और कुछ माँगना हो वह भी माँगलो । तब शुक्र ने कहा कि हे महाराज ! कार्तिक शुक्ल अष्टमी को इन शुक्रेश्वर का जो भक्तिपूर्वक अर्चन करे, उसे अल्पमृत्यु का कभी भय न हो । महादेवजी ने 'तथास्तु' कह कर कैलास को प्रयाण किया ।

---

* अर्बुद पर्वत (आबू) राजपूताने में है ।

काशीपुरी में 'शुक्रेश्वर' कालिका गली में हैं ।

† यदि तुष्टो महादेव विद्यां देहि महेश्वर ॥

यया जीवन्ति सम्प्राप्ता मृत्युं सर्वेपि जन्तवः ॥ ८ ॥

(स्क० पु० अर्बुद ख० ३५)

प्रथम वर के प्रभाव से शुक्र ने युद्ध में मरे हुए असंख्य दैत्यों को फिर से जिला कर युद्ध में भेजते २ देवों के नाकों दम कर दिया। दैत्यों को पराजित करना देवों के लिये कठिन हो गया।

इस शुक्रतीर्थ में स्नान करने से एवं शुक्रेश्वर के अर्चन से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है और उसे अल्प-मृत्यु का भय कभी नहीं होता। उसे इस लोक में अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है। सब सुख मिलते हैं और अन्त में शिवलोक को प्राप्त होकर शिवगणों के साथ आनन्द भोगता है।

स्कन्द पुराण में शुक्राचार्य ने इस प्रकार भगवान् से याचना की थी :—

"एतत्कार्तिकमासस्य शुक्लाष्टम्यान्तु यः स्पृशेत् ।
ततो लिङ्गं पूजयेच्च यः पुमाञ्छ्रद्धयान्वितः ॥ १० ॥
अल्पमृत्युभयं तस्य मा भूत्तव प्रसादतः ।
इष्टान् कामानवाप्नोतु इह लोके परत्र च ॥ ११ ॥"

(अर्बुद खण्ड १५)

तेरहवाँ रत्न

सुरराज इन्द्र ।

इन्द्र के द्वारा अपने पुत्र विश्वरूप का वध सुनकर महर्षि त्वष्टा अत्यन्त दुःखित और कुपित हुए। उन्होंने परम

दारुण तप करके ब्रह्मा को प्रसन्न किया और देवों को भय-भीत करनेवाला पुत्र माँगा। उनके वरदान से वृत्र नाम का परम प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ। पिता की आज्ञा के अनुसार वृत्र इन्द्र से बदला लेने के लिये घोर तपस्या करने लगा। उसकी घोर तपस्या देखकर इन्द्र को बहुत भय हुआ और उन्होंने दधीचि ऋषि की हड्डियों से बने हुए वज्र से उसे मार डाला।

वृत्र ब्राह्मण को मारकर ज्योंही इन्द्र चलने लगे, त्योंही ब्रह्महत्या ने उनका पीछा किया। जहाँ-जहाँ इन्द्र जाते, वहाँ-वहाँ उनके पीछे वह हत्या भी जाती थी। ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरु-पत्नी-गमन एवं विश्वासघात, ये महापातक हैं, इनसे बचना कठिन है।

परम दुःखित देवराज इन्द्रासन और इन्द्राणी का परित्याग कर तप करने के लिये चले। वे अनेक तीर्थ, मन्दिर, समुद्र, नदी, तड़ाग आदि में गये; पर उस हत्या से उन्हें मुक्ति नहीं मिली। अन्त में हिमालय पहुँचे और वहाँ परम कारुणिक शंकर भगवान् की आराधना करने लगे। कृच्छ्र चान्द्रायण आदि अनेक दुष्कर व्रत किये। वे ग्रीष्म-ऋतु में पञ्चाग्नि तापते थे, वर्षा में खुले मैदान में बैठे भीगते रहते थे और शीत-काल में भींगे कपड़े पहने हुए भगवान् की आराधना किया करते थे। इस प्रकार उग्र तप करते-करते दस हजार वर्ष बीत गये। तब आशुतोष भगवान् शिवजी प्रसन्न होकर प्रगट हुए। संयोग से उसी समय सब देवता और ऋषि भी आ पहुँचे।

उनमें से वृहस्पति ने कहा—कि आप ही लोगों की आज्ञा से इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा था। उसी के कारण इनके ऊपर ब्रह्महत्या सवार है। ये सम्पूर्ण जगत् में घूम चुके; पर कहीं भी शान्ति न मिल सकी। हे देवदेव उमापते! इनको ऐसा वर दीजिये जिसमें ये इस महापातक से छुटकारा पाजायँ। तब भगवान् शंकर की आज्ञा से ब्रह्माजी ने उस ब्रह्महत्या को चार हिस्सों में बाँट दिया। एक भाग नदी में, दूसरा पृथ्वी में, तीसरा रजस्वला स्त्री में और चौथा शूद्र-सेवक ब्राह्मण में। इस प्रकार उस हत्या से मुक्तकर के भगवान् शंकर इन्द्र से बोले कि मैं तुम्हारे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, वर माँगो। इन्द्र ने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि हे परमेश्वर! मैं इस तीर्थ में शिव-लिंग स्थापित करता हूँ, आप उसमें सदा विराजमान रहें और अपनी आराधना करनेवाले भक्तों को महापातकों से मुक्त किया करें। इस प्रार्थना को स्वीकार कर भगवान् सदाशिव अन्तर्हित हो गये और देवराज ने विधिविहित रीति से शिवलिंग का संस्थापन किया। इस *इन्द्रतीर्थ में स्नान करने तथा इन्द्र के द्वारा संस्थापित 'इन्द्रेश्वर' नामक शिवलिंग की पूजा करने से महापातकी भी सब पातकों से मुक्त हो जाता है। इसका माहात्म्य स्कन्दपुराण में इस प्रकार दिया गया है:—

---

* यह स्थान हरिद्वार से १४६ मील पर प्रसिद्ध केदारेश्वर के पास है और इन्द्रपर्वत के नाम से विख्यात है।

"इन्द्रतीर्थे तु यः स्नात्वा तर्पयेत् पितृदेवताः ।
महापातकयुक्तोऽपि मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४१ ॥
इन्द्रतीर्थे तु यः स्नात्वा पूजयेत् परमेश्वरम् ।
सोऽश्वमेधस्य यज्ञस्य पुष्कलं फलमश्नुते ॥ ४२ ॥"

(रेवाखराड अ० ११८)

चौदहवाँ रत्न

—∞∞—

परम भक्त यमराज

प्राचीनकाल में माराडव्य नाम के एक परम तेजस्वी मुनि हो गये हैं। अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करने के अनन्तर वे लोकान्तरित हुये और पूर्वजन्म में अर्जित कर्म के अनुसार उन्हें शूली पर चढ़ने का दराड दिया गया। शूली के अग्रभाग से उतर कर वे महर्षि परम आनन्दित होते हुए यमराज के समीप गये और उनसे पूछने लगे कि आप कृपा कर हमको यह बताइये कि मैंने इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में ऐसा कौन सा घोर पाप किया था, जिसके फलस्वरूप मुझे यह शूली का कष्ट भोगना पड़ा है। यमराज ने उत्तर दिया-- हे विप्रशिरोमणे ! किसी जन्म में आपने वाल्यकाल में अनेक जीवों के शरीरों को शूलाग्र से वींधा था। उसी अपराध से आपको यह नरक यातना भोगनी पड़ी है। माराडव्य ऋषि ने यमराज से कुपित

होकर कहा—इस छोटे से अपराध के लिये आपने मुझे इतना कठोर दण्ड देकर बड़ा अन्याय किया है। अतः इसके बदले में आपको शाप देता हूँ कि आप देव-योनि से मनुष्य-योनि में जायँ और उसमें भी शूद्र के घर में उत्पन्न हों।

माण्डव्य मुनि का ऐसा कठिन शाप सुनकर यमराज अपने हृदय में अत्यन्त व्यथित हुए और इस शाप के प्रतीकार के लिये भगवान् शङ्कर की आराधना करने लगे। किसी एक पवित्र *तीर्थ में शिवलिङ्ग का संस्थापन कर षोडशोपचार से भक्ति-पूर्वक पूजन कर उनके सन्मुख कठिन तपस्या करने लगे। इस प्रकार दिन रात कठोर तपस्या करते-करते बहुत दिन व्यतीत हुए। अन्त में भगवान् शङ्करजी यमराज पर प्रसन्न होकर प्रकट हुए और बोले - हे यमराज! मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो तुम्हारे लिये अदेय हो। अतएव अभीष्ट वर माँगो। यमराज ने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा—हे प्रभो! न्याय करना और सांसारिक जीवों को उनके कर्मों के अनुसार फल देना मेरा कर्तव्य और धर्म है। उसी कर्तव्य के पालन के लिये मैंने माण्डव्य ऋषि को उनके कर्मों के अनुसार शूली का दण्ड दिया था। उससे कुपित होकर उन्होंने मुझे शाप दे दिया कि मैं मनुष्य और मनुष्य में भी शूद्र-योनि में जन्म पाऊँ। हे सदाशिव! कृपया

* श्री जगन्नाथपुरी में 'कपालमोचन' से आध मील की दूरी पर यमेश्वर महादेव हैं। पावनपुरी काशी में संकटाघाट के नीचे यमेश्वर शिव हैं।

इस घृणित योनि में जाने से मुझको बचाइये। यमराज के ऐसे करुणापूर्ण वचन सुनकर शिवजी कहने लगे कि माण्डव्य जैसे महामुनि के वचन को अन्यथा करना मेरी शक्ति के बाहर है। परन्तु इतना वर मैं देता हूँ कि शूद्र-योनि में रहते हुये भी तुम्हें ब्रह्मज्ञान बना रहेगा, इस कारण तुम पाप-पुण्य से अलिप्त रहोगे। शूद्र-योनि में उत्पन्न होने की ग्लानि तुम्हें नहीं होगी। कुटुम्बियों के कारण तुम्हें कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। तुम एक सौ वर्ष मनुष्य-योनि में रहकर अपने उपदेशों द्वारा असंख्य मनुष्यों का उद्धार और संसार की भलाई करोगे। अन्त में योग द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से प्राणों का परित्याग कर परम पद को प्राप्त होवोगे। ऐसा वचन कह कर भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये।

"आत्मानं सम्यगुत्सृज्य मुक्तिमेव प्रयास्यसि ।
एवमुक्त्वा स भगवान् गतश्चादर्शनं हरः ॥ १२ ॥"

(नागर खं० अ० १३५)

इधर कुछ समय बाद यमराज ने दासी के घर में जन्म लिया और उनका नाम विदुर पड़ा। यमराज के अवतार होने के कारण और श्रीमहादेवजी के वरदान से शैशवावस्था से ही विदुर परम विद्वान् तथा पूर्ण ज्ञानी हुये। धृतराष्ट्र और पाण्डु ये दोनों इन्हें अपने भाई के समान मानते थे और सभी आवश्यक कार्यों में इनसे सलाह लेते थे। विदुर त्रिकालदर्शी थे। कब कहाँ क्या होता है यह सब एक ही स्थान पर बैठे २ जान लिया

करते थे। आप ब्रह्मज्ञानी थे अतः आपके ऊपर जाति का कुछ भी असर नहीं पड़ा और न पाप-पुण्य का कुछ बन्धन ही इन्हें बाँध सका। इस प्रकार भगवान् शंकर की कृपा से यम महाराज कर्मबन्धन से निर्लिप्त रहकर परमधाम को गये।

(नागर खण्ड)

पन्द्रहवाँ रत्न।

गुणनिधि (कुबेर)

प्राचीन काल में यज्ञदत्त नामक एक परम तपस्वी ब्राह्मण थे। वे सम्पूर्ण वेद-वेदांगों के ज्ञाता और सर्वदा श्रौत-स्मार्त कर्मों में प्रवृत्त रहते थे। उनके 'गुणनिधि' नामक एक पुत्र हुआ। जो यज्ञोपवीत होने के अनन्तर सब विद्याओं को पढ़कर पूर्ण विद्वान् हो गया। दैववश कुसंग में पड़ने से उसे जुआ खेलने का दुर्व्यसन लग गया। नित्य वह अपने पिता से छिपा कर घर के आभूषण आदि चुरा ले जाता और जुआ में हार आता था। जब यज्ञदत्त को उसके दुर्व्यसन का पता लगा तो उसे अपने घर से निकाल दिया। घर से निकलकर

गुणनिधि भोजन की खोज में एक मन्दिर में पहुँचा और वहाँ द्वार पर बैठकर शिवकीर्तन सुनने लगा। रात को जब सब लोग सो गये तो शिवभोग चुराने के लिये वह मन्दिर में घुसा। उस समय दीपक की ज्योति क्षीण हो गयी थी। इसलिये उसने अपना कपड़ा फाड़कर बत्ती जलायी और भोग चुराकर भागने लगा। इतने में उसके पैर के लग जाने से एक आदमी जाग पड़ा और उसने ऐसी लाठी जमायी, जिससे उसके प्राण निकल गये।

उसी दीपदान के फल से वह दूसरे जन्म में कलिंग देश का राजा हुआ और पूर्वजन्म की स्मृति कर उसने सब शिवालयों में दीपदान करने का व्रत उठाया। इस उत्तम व्रत के प्रभाव से वह उस जन्म में अनेक प्रकार के सुख भोगकर अन्त में ‡सद्गति को प्राप्त हुआ। दूसरी बार पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा के घर में उसका जन्म हुआ। इस उत्तम कुल में जन्म पाकर वे फिर शम्भु की आराधना में लग गये और शिवलिंग का संस्थापन कर * कठिन तपस्या करने लगे। तप करते करते लाखों वर्ष बीत गये और उनके शरीर में केवल अस्थि चर्ममात्र शेष रह गया। उस तीव्र तप से प्रसन्न होकर भगवान् महादेव उमा सहित प्रकट हुए और कहने लगे—हे वैश्र

* यह शिवलिङ्ग कावेरी और नर्मदा के संगम पर B. B. & C. I. रेलवे Mortakka. स्टेशन के पास ब्रह्मपुरी में 'अमरेश' नाम से सुशोभित है। और काशीजी में श्रीअन्नपूर्णा के मंदिर में है। ‡ पारलौकिक सुख

वण ! तुम्हारी तपस्या से मैं परम प्रसन्न हूँ और तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करने आया हूँ। तुम अपना अभीष्ट वर माँगो।

ऐसा मधुर वचन सुनते ही वश्रवण ने आँखें खोलीं, परन्तु शिवजी के तीव्र तेज के मारे उनकी आँखें फिर बन्द हो गयीं और उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—हे महाराज! मुझे ऐसी शक्ति दीजिये। जिसमें आपका सर्वफल-दायक दर्शन कर सकूँ। आपके दर्शनमात्र से मेरी अभीष्टसिद्धि हो जायगी। तब श्रीमहादेवजी ने उनके ऊपर कृपापूर्ण हाथ फेरा, हाथ फेरते ही उनकी दिव्य दृष्टि हो गयी। आँख खुलते ही उनकी दृष्टि सबसे पहले परम सुन्दरी गिरिजा पर पड़ी। अतएव वे क्रूरदृष्टि से उन्हींको घूर-घूर देखने लगे। इस घूरने का फल यह हुआ कि उनकी बायीं आँख फूट गई। पार्वतीजी उनका यह दुर्व्यवहार देखकर कहने लगीं कि यह तापस तो बड़ा दुष्ट मालूम होता है, मुझे बड़ी क्रूरदृष्टि से देख रहा है। शिवजी ने हँसकर कहा—हे देवि! यह तो तुम्हारा पुत्र है, तुम्हें किसी बुरी भावना से नहीं देख सकता। यह तुम्हारी तपस्या के फल पर आश्चर्य कर के तुम्हारी ओर निहार रहा है।

तदनन्तर शंकरजी वैश्रवण से बोले कि हे वत्स ! मैं तुम्हारी तपस्या से बहुत सन्तुष्ट हूं और वर देता हूँ कि तुम्हें निधियों का स्वामित्व प्राप्त हो और गुह्यक, यक्ष, किन्नर तथा पुण्यजनों के अधिपति हो जाओ, तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मैं तुम्हारी अलकापुरी के समीप ही निवास करूँगा। पार्वतीजी ने भी

अनेक वर दिये और कहा कि तुमने मेरे रूपको बड़ी बुरी दृष्टि से देखा है इस लिए तुम्हारा नाम 'कुबेर' होगा। तुम्हारे संस्थापित इस शिवलिङ्ग का जो लोग विधिपूर्वक अर्चन करेंगे, वे कभी निर्धन नहीं होंगे और किसी प्रकार के पाप उन्हें नहीं लगेंगे। ऐसा वर देकर पार्वती जी के साथ शिवजी अन्तर्धान हो गये और कुबेर अलकापुरी का ऐश्वर्य्य पाकर परम सन्तुष्ट हुए।

"मया सख्या च ते नित्यं वत्स्यामि च तवांतिके।
अलका निकषा मित्र तव प्रीतिविवृद्धये ॥ २६ ॥"

(शिव० पु० अ० १६२ रु० खं०)

सोलहवाँ रत्न

अग्नि ।

एक समय श्रीमहादेवजी अनेक देवों के साथ तीर्थयात्रा करते-करते *'भृगुकच्छ' नामक तीर्थ में पहुँचे। वहाँ अग्निदेव कठिन तपस्या कर रहे थे। †वे अनेक रोगों के कारण बहुत दुखी

---

* भृगुकच्छ गुजरात में हैं।

† श्रीनगर (हिमालय) के समीप कमलेश्वर पीठ से ऊपर दक्षिण ओर वह्नि नामक पर्वत पर अग्निदेव ने तप किया था।

पावनपुरी काशी में अग्नीश्वर घाट पर अग्नीश्वर शिव हैं।

थे। उनकी आँखें पीली पड़ गयी थीं। रोगों से छुटकारा पाने के लिये वे सैकड़ों वर्षों से महेश्वर शिवजी की आराधना कर रहे थे। देवों ने प्रार्थना की कि हे देवदेव! ये अग्निदेव हम लोगों के मुख हैं, इन्हीं के द्वारा हम लोगों को भोजन मिलता है। इन्हें इस समय अनेक रोगों से कष्ट हो रहा है। हे प्रभो! इनका रोग दूरकर हम लोगों की रक्षा कीजिये। उस समय व्याघ्राम्बर पहने, सारे शरीर में विभूति रमाये, अनेक सर्पों को देह भर में लपेटे, जटाजूटधारी, परम कल्याणकारी शिवजी के दर्शन अग्निदेव ने भी किये और स्तुति करने लगे।

उनकी भावमयी स्तुति से प्रसन्न होकर शिवजी ने कहा कि मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न हूं। जो वर माँगना हो, माँग लो। ऐसे आनन्दप्रद वचन सुनकर अग्निदेव ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि हे महाराज! मैं अनेक रोगों से पीड़ित हूँ और अनेक कष्टों का अनुभव कर रहा हूं, अतः यही प्रार्थना है कि आप मुझको इन कष्टों और रोगों से मुक्त करें।

अग्नि के ऐसे दीन वचन सुनकर शंकर भगवान् ने आदित्य का रूप धारण कर उनके सब रोगों को हर लिया और कहने लगे कि इस तीर्थ में सदा मेरा अंश वर्तमान रहेगा और यहाँ स्नान करने से कुष्ठ, कामला, तथा क्षय आदि सभी प्रकार के रोग उसी तरह भाग जायँगे, जैसे गरुड़ को देखतेही सर्प भाग जाते हैं। पिङ्गलाक्ष अग्नि के संस्थापित इन 'पिङ्गलेश्वर' के दर्शनमात्र से कायिक, वाचिक और मानसिक सभी तरह के

पाप नष्ट हो जायँगे । इस पावन देवखात नामक तीर्थ में स्नान, दान आदि जो कुछ भी पुण्य-कार्य किया जायगा, वह अक्षय होगा और उसके अनन्त फल मिलेंगे। भगवान् शंकर का कथन है:—

"वाचिकं मानसं पापं कर्मजं यत्पुरा कृतम् ।
पिङ्गलेश्वरमासाद्य तत्सर्वं विलयं व्रजेत् ॥
तत्र स्नानं च दानं च देवखाते कृतं नृप ।
अक्षयं तद्भवेत् सर्वमित्येवं शङ्करोऽब्रवीत् ॥"

(रेवाखण्ड १७६-२. ३)

सत्रहवाँ रत्न

चन्द्रदेव

जब कि दक्ष प्रजापति ने अपनी अश्विनी आदि सत्ताईस कन्याओं का विवाह चन्द्रदेव के साथ कर दिया तो चन्द्रमा के समान लोक-विभूषण और लोकानन्दकारी पति को पाकर वे बहुत प्रसन्न हुईं और उन सत्ताईस देवियों को पाकर चन्द्रदेव भी बहुत सन्तुष्ट हुए; किन्तु उनका सबसे अधिक प्रेम रोहिणी पर था। इस कारण अन्य स्त्रियों के हृदय में बहुत दुःख हुआ।

यह भेददृष्टि उन सपत्नियों के लिये असह्य थी । जब उनसे न रहा गया तब वे अपने पिता दक्ष की शरण में गईं और उनसे यथार्थ स्थिति का वर्णन किया । यह वृत्तान्त सुनकर दक्षजी चन्द्रमा के पास गये और कहने लगे कि प्राणीमात्र का यह कर्तव्य है कि वह सब पत्नियों पर बराबर प्रेम रखे । जो व्यक्ति भेदभाव रखता है वह मूर्ख समझा जाता है । इसलिये आपका यह धर्म है कि मेरी सब पुत्रियों पर समान प्रेम रखते हुए किसी एक पर अधिक आसक्ति न रखे । अब तक जो हुआ सो हुआ; पर भविष्य में ऐसी बात नहीं होनी चाहिये ।

यह कहकर दक्षजी तो अपने घर चले गये; पर चन्द्रमा से यह भेदभाव नहीं छोड़ा गया । अब रोहिणी पर उनका और भी अधिक अनुराग हो गया । अपने पिता के उपदेश का उलटा असर देखकर उन देवियों के मन में अत्यन्त खेद हुआ और वे फिर अपने पिता की शरण में गयीं । दक्ष प्रजापति अपनी सरल-हृदया पुत्रियों का यह दुःख देखकर बहुत दुखी हुए और फिर चन्द्रमा को समझाने चले । चन्द्रमा के समीप जाकर उन्होंने उनको बहुत कुछ समझाया और इस भेददृष्टि के अनेक दोष भी बताये । आपने यहाँ तक कहा कि जो समान श्रेणीवालों में विषमता का व्यवहार करता है, वह नरक-गामी होता है । अतः विषमता रखना ठीक नहीं है; परन्तु चन्द्रमा की वह अमिट आसक्ति दूर न हुई । अपने वचनों की अवहेलना करते देखकर दक्ष प्रजापति को क्रोध आगया

और उन्होंने चन्द्रमा को शाप दे दिया कि जा तू क्षयी हो जा (यानी तेरे क्षय रोग हो जाय)। शाप देते ही चन्द्रदेव क्षीण होने लगे। ओषधीश द्विजराज के क्षय को देख, देवता-ऋषि आदि सभी चर-अचर जीव बहुत चिन्तित हुए और सोचने लगे कि अब तो संसार का नाश होना चाहता है।

अन्त में चन्द्रमा की प्रार्थना से इन्द्र आदि देव तथा वसिष्ठ आदि मुनि पितामह ब्रह्मदेव के यहाँ गये और प्रार्थना करने लगे। ब्रह्माजी ने कहा कि जो भावी था, सो तो हो ही गया। उसमें अब कुछ परिवर्तन नहीं हो सकता; परन्तु मैं एक उपाय बताता हूँ, उसके करने से चन्द्रमा की अवश्यमेव रक्षा होगी।

उन्होंने कहा कि देवताओं समेत चन्द्रमा को प्रभासतीर्थ में जाकर मृत्युञ्जय भगवान् की आराधना करनी चाहिये। वहाँ शिवलिंग की स्थापना कर, उनके सामने घोर तपस्या करने से श्रीमहादेवजी प्रसन्न हो जायँगे और वरदान देकर चन्द्रमा को अक्षय कर देंगे।

इस प्रकार ब्रह्माजी के वचन सुनकर सब देवता लौट पड़े और चन्द्रमा के समीप आये। ब्रह्मा ने जो कहा था वह सब वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुन चन्द्रमा सब देवताओं को साथ लेकर प्रभासतीर्थ में गये और बड़ी श्रद्धा के साथ विधिविहित रीति से पार्थिव शिवार्चन करने लगे। वहाँ वे मृत्युञ्जय मन्त्र से पूजा करते और मृत्युञ्जय मंत्र ही का जप

करते थे। इस प्रकार चन्द्रमा ने छः महीने तक घोर तपस्या की। इस बीच में उन्होंने दस करोड़* मृत्युञ्जय मन्त्र का जप कर डाला। अन्त में देवदेव शिवजी ने प्रकट होकर चन्द्रमा से कहा कि मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इसलिये अपना अभीष्ट वर माँगो। चन्द्रमा ने हाथ जोड़कर स्तुति की और कहा कि हे महाराज! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मुझे किसी बात की कमी नहीं है। मैं क्षयरोग से बहुत पीड़ित हूँ, उससे मुझे बचाइये।

ऐसी प्रार्थना करनेपर शिवजी ने वरदान दिया कि कृष्ण-पक्ष में तुम्हारी एक २ कला क्षीण होगी और शुक्लपक्ष में एक २ कला बढ़ेगी। इस प्रकार पूर्णमासी तक तुम पूर्ण होजाया करोगे। इसी बीच में सब देवता और मुनि गण भी पहुँच गये और हर्षित होकर शिवजी की स्तुति करते हुए चन्द्रमा को आशीर्वाद देने लगे।

उन्होंने शंकर भगवान् से प्रार्थना की कि भक्तों के उद्धार के लिये आप इसी † प्रभासतीर्थ में पार्वती समेत निवास करें।

---

* ॐ हौं जूं सः ॐ भूर्भुवःस्वः ॐ त्र्यम्बकंयजामहे सुगन्धिम्पुष्टि-वर्द्धनम्। उर्व्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् स्वः भुवः भूः ॐ सः जूं हौं ॐ।

† विरावल से २॥ मील की दूरी पर 'सोमनाथ पट्टन' नामका एक कसबा जूनागढ़ राज्य में है।

तब से इस तीर्थ में निराकार प्रभु साकाररूप धारण कर ज्योतिर्लिंग के रूप में विराजमान हुए। देवता, गन्धर्व, ऋषि आदि सभी ने इस लिंग की पूजा की। जैसा कि महाभारत में लिखा है:—

"ऋषयश्चैव गन्धर्वा देवाश्चाप्सरसस्तथा।
लिंगमस्यार्चयन्तिस्म तच्चाप्यूर्ध्वं समास्थितम् ॥"

अठारहवाँ रत्न

देवसमूह

प्राचीन काल में नर्मदा के पावन तटपर देव और दानव दोनों ही आनन्द से निवास करते थे। समय के परिवर्तन से दानवों की शक्ति अधिक हो गयी जिससे दोनों में परस्पर घोर संग्राम हुआ। अन्त में देवगण हारकर दानवों से भयभीत हो, शरणागत-वत्सल भगवान् शिवजी की शरण में गये। देवताओं को यह दृढ़ निश्चय था कि शिवजी * शरणागत की रक्षा करनेवाले हैं। वे शरण में आये हुए को कभी नहीं त्यागते। देवता

---

* न विमुञ्चति पुण्यात्मा शरण्यः शरणागतान्।

(महा० भा० अनु० पर्व० अ० १६१)

विचार कर रहे थे कि शिवजी को किसी तरह शीघ्र संतुष्ट करना चाहिये। इसी बीच में देवगुरु बृहस्पतिजी बोल उठे:—हे देवताओं! तुम्हें दानवों को परास्त करनेवाला यज्ञ करना चाहिये। क्योंकि यज्ञ से ही प्रभु संतुष्ट होते हैं। इस तरह बृहस्पतिजी की बात सुनकर ब्रह्माजी बोले:—दानवों के भय से हम सब को तो मन्त्र ही नहीं याद आते।

इस तरह देवता लोग आपस में विचार कर ही रहे थे कि इतने में भक्तों के उद्धार करनेवाले, शरणागत-वत्सल, आशुतोष शिवजी पाताल को फोड़कर ॐङ्कारपूर्वक भूर्भुवः स्वः इन तीनों व्याहृतियों का उच्चारण करते हुए महाप्रलय की अग्नि के समान पर्वत से निकल पड़े।

करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशित आदि-अन्त-रहित ऐसे श्रेष्ठ लिंग का अब तक किसी ने कभी दर्शन नहीं किया था। ऐसे लिंग-रूप शिवजी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों वेद, वेदांग और शास्त्रों के सहित ब्रह्माजी से बोले:—

हे ब्रह्मदेव! तुम लोक में शांति फैलानेवाले सौम्य यज्ञ को सानन्द करो। मैं तुम्हें वेदों को देता हूँ। तदनन्तर ब्रह्माजी ने भगवान् की आज्ञा पाकर लोकों को शान्ति देनेवाला सौम्य यज्ञ किया। ऐसा करने से देवताओं का बल बढ़ा देखकर, दैत्य गण उनके भय से दशों दिशाओं की ओर भाग निकले। ओंङ्कार के प्रभाव से सब देवता निर्भय हो गये। फिर महादेव जी का पूजनकर देवता लोग आनन्दपूर्वक स्वर्ग को चले

गये। कल्पान्त तक रहनेवाले, देवता और दैत्यों से नमस्कृत यह *'ॐकारेश्वर' महालिंग शिव सब को मोक्ष देनेवाले हैं। सब देवता कल्प के अन्त में इसी लिंग में लीन हो जाते हैं। इसीसे इस लिंग को लोग अमर, ब्रह्मा, हरि और सिद्धेश्वर कहते हैं। पिंगलेश्वर नामक सूर्य और पित्रीश्वर चन्द्रमा, छवों अंग, पद और क्रम के सहित तीनों वेद यहाँ ही सिद्ध हुए हैं।

इस लिंग का पूजन करने से प्राणी विष्णुलोक में पूजित होता है। इन पांचों लिंगों का कभी भी नाश नहीं होता। नर्मदातट पर विद्यमान (१) मार्कंण्डेय लिंग (२) अविमुक्त, (३) केदारनाथ, (४) अमरेश्वर, (५) ॐकारनाथ, इन पवित्र पाँचों लिंगों का जो प्राणी प्रातः काल उठकर स्मरण करता है, वह सब तीर्थों के फल पाकर शिवलोक में पूजित होता है। यथाः—

"सर्वतीर्थफलं प्राप्य शिवलोके महीयते ॥ ४६ ॥"

(रे० खं० अ० ४७)

ॐकारेश्वर महादेव को छोड़कर समुद्र पर्यन्त पाँच कला का कोई भी रुद्र नहीं है। वेद के रहस्य सहित चारों वेद जिनके पाँचों मुख हैं और नवों शक्तियोंसे युक्त रहकर नर्मदा के तीर में पूजे जाते हैं। ॐकार उनका पश्चिमवाला मुख है, जिसको लोग सद्योजात भी कहते हैं। वह शंख, कुन्द और चंद्रमा के

---

* यहाँ B. B. & C. I. रेलवे के MORTAKKA स्टेशन से जाना होता है।

समान सुंदर है। उसीसे ऋग्वेद निकला है उसके देवता ब्रह्मा जी हैं। और उत्तरवाला मुख मन को हरनेवाला पीले रंग का वामदेव नामक मुख है, उससे यजुर्वेद की उत्पत्ति हुई है। उसके देवता श्रीविष्णुजी हैं। मेघों के समान रंगवाला, दक्षिण दिशा में विद्यमान, अघोर नामक मुख है, उससे सामवेद उत्पन्न हुआ है। उसका सूर्य, काल और अग्नि देवता है। पूर्व में केश के समान लाल व पीला तत्पुरुष नामक मुख है, उससे अथर्ववेद की उत्पत्ति हुई है, उसका देवता वरुण है। पाँच रंग का बड़ा भारी ईशान नाम का मुख है। वेदों के सभी सिद्धान्त उस मुख से गाये गये है, उसके देवता सोम हैं। छठाँ मुख सदाशिव नाम का है, जिसके हिस्से नहीं हो सकते, और जो दोषों से रहित है। उसमें कोई चिन्ह नहीं है, और न वह किसी से जाना ही जाता है। उसको जान लेने से जीव मुक्त हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

"निर्लक्ष्यं लक्ष्यहीनन्तु ज्ञात्वा मोक्षो न संशयः।
एतत्ते कथितं राजन्नोङ्कारस्य तु वर्णनम् ॥७६॥"

(रेवा खण्ड अ० ४७)

उन्नीसवाँ रत्न

विष्णुवाहन श्रीगरुड़जी

एक बार विष्णु भगवान् के परम भक्त गरुड़ के पंख अचानक गिर गये। यह देखकर विष्णु भगवान् को बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने विचार किया कि बड़े शक्तिशाली वज्रों के प्रहार से जिस गरुड़ का एक रोम भी नहीं गिर सकता, फिर गरुड़ के पंखे कैसे गिर पड़े ? संसार के किसी भी अस्त्र-शस्त्र में इतनी शक्ति नहीं जो इनके पंखों को गिरा दे। इतने में उनकी दृष्टि परम तपस्विनी शाण्डिली पर पड़ी, जो समीप ही में खड़ी थी। उसे देखकर विष्णुजी को निश्चय हो गया कि गरुड़ ने इसी तपस्विनी का कुछ अपराध किया है। इसी अपराध के बदले शाण्डिली के कोप से गरुड़ को यह भयंकर दण्ड मिला है। भगवान् ने शाण्डिली से पूछा कि हे देवि ! गरुड़ ने कौनसा अपराध किया था, जिसका उसे इतना भयानक दण्ड मिला है ? इसके पंख गिराने की शक्ति बड़े-बड़े आयुधों में भी नहीं थी। यह दुष्कर कार्य विना आपके कोप के कभी नहीं हो सकता।

भगवान् के ऐसे वचन सुनकर शाण्डिली ने उत्तर दिया—हे पुरुषोत्तम ! इन्होंने मेरे सामने नारी-जाति की घोर निंदा की है और अनेक दूषण बताये हैं। इन्होंने मेरा कुछ भी संकोच नहीं किया, जो मन में आया सो बक गये।

नारी-जाति का इतना बड़ा अपमान मेरे लिये असह्य था इसीसे इनको मैंने दण्ड दिया है। भगवान् ने मधुर शब्दों में उत्तर दिया कि हे महाभागे! यद्यपि गरुड़ ने स्त्रियों की निंदा की और उनके अवगुण भी बताये; परंतु स्त्री-जातिमात्र को दूषित करने के उद्देश्य से नहीं। उन्होंने तो साधारण तौर से नारियों में जो स्वाभाविक कमजोरियाँ हैं; केवल उनका वर्णन किया है। नारी-जाति को कलङ्कित करने की इच्छा उनकी कदापि नहीं थी। इसलिये इस छोटे से अपराध के लिये इतना कठिन दण्ड देना आप जैसी तपस्विनी को शोभा नहीं देता। अतः कृपाकर आप इनका अपराध क्षमा करें तो बहुत अच्छा हो।

भगवान् के ऐसे वचन सुनकर शाण्डिली ने कहा कि मेरे मन में जो शुभ या अशुभ भावना उत्पन्न होती और मेरे मुख से जो वचन निकल जाता उसको कोई अन्यथा नहीं कर सकता। मैंने जो कह दिया, वह होकर ही रहेगा। इसका एक मात्र उपाय यही है कि * गरुड़ भगवान् शङ्कर की आराधना करें। एकमात्र वे ही इस काम में समर्थ हैं, दूसरे किसी देवता में ऐसी शक्ति नहीं है। उनकी आराधना के विना इनके पंख नहीं उग सकते। अतएव पक्षविहीन होकर ही जीवन व्यतीत करना पड़ेगा।

---

* तस्मादेष ममादेशादाराधयतु शङ्करम्।
पक्षलाभाय नान्यस्य शक्तिर्दातुं व्यवस्थिता ॥ ११ ॥

शाण्डिली के ऐसे वचन सुनकर भगवान् पुण्डरीकाक्ष ने अपने भक्त-शिरोमणि गरुड़ को एकाग्रचित्त से भगवान् आशुतोष की अहर्निशि आराधना करने का आदेश किया। उनकी आज्ञा के अनुसार गरुड़ भक्तिपूर्वक महादेवजी की आराधना करने लगे। उन्होंने एक शिवलिंग स्थापित किया * और वेद-मन्त्रों द्वारा षोडशोपचार से उसकी पूजा करने लगे। चान्द्रायण, प्राजापत्य प्रभृति अनेक व्रत-उपवास किये। सैकड़ों वर्ष केवल वायु पीकर कठिन तपस्या की। उनकी मनोवृत्तियाँ शिवजी के अतिरिक्त किसी अन्य विषय में कभी नहीं गयीं। इस प्रकार घोर तप करते २ एक हज़ार वर्ष बीत गये। उनकी अपूर्व तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शिव प्रकट हुए और वर माँगने के लिये कहा। हृदयानन्दकारी सर्वदुःखहारी महादेवजी के दर्शन पाकर गरुड़जी आनन्द से पुलकित हो गये और प्रहृष्ट वदन से स्तुति करने लगे। स्तुति के अनन्तर उन्होंने कहा कि मेरे पंख गिर गये हैं, इसलिये मैं उड़ने में असमर्थ हूँ, पंख न रहने के कारण मैं बेकाम हो गया हूँ। हे महाराज ! मुझे और कुछ नहीं चाहिये। मैं केवल यही चाहता हूँ कि मेरे पंख उग आवें। इसी के साथ साथ एक प्रार्थना यह भी है कि आप इस शिवलिंग में सर्वदा विराजमान रहें और विपत्ति-ग्रस्त भक्तों का उद्धार किया करें।

भगवान् शम्भु ने प्रसन्नतापूर्वक दोनों प्रार्थनाएँ स्वीकार

* गोकर्ण क्षेत्र में यह स्थान गरुड़ेश्वर शिव के नाम से विख्यात है।

कर लीं और कहा कि हे गरुड़ ! तुम्हारा पहले के समान रूप हो जायगा और पक्षयुत होकर उसी महावेग से तुम उड़ सकोगे, जैसे पहले उड़ते थे। आज से इस लिंग का नाम 'गरुड़ेश्वर' होगा। इनकी आराधना से भ्रूणहत्या, ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नी-गमन आदि महापातक भी दूर हो जायँगे। जो त्रिकालमें इनकी पूजा करेगा, वह शिवलोकमें पहुँचकर शिव के समान आसन पर स्थान पायगा। जो भक्त एक साल तक प्रति सोमवार को इनकी अर्चना करेगा, वह विमान पर चढ़ कर शिवभक्तों से घिरा हुआ शिवलोक को प्राप्त होगा।

"यो वत्सरं वसेत्सोपि शिवलोके महीयते ।
अथवा सोमवारेण यस्तं पश्यति मानवः ।। २८ ।।
कृत्वा क्षणं सुभक्त्या यो यावत्संवत्सरं द्विजः ।।
सोपि याति न सन्देहः पुरुषः शिवमन्दिरम् ।। २९ ।।

(नागर खं० अ० ८१)

ऐसा वर देकर भगवान् शङ्कर तो कैलास पर्वत को चले गये। और गरुड़ अपने पूर्वरूप को प्राप्त होकर बहुत हर्षित होते हुए भगवान् कमलापति की सेवा में लौट गये।

बीसवाँ रत्न

बुध ।

तारा के गर्भ से उत्पन्न होते ही परम तेजस्वी, रूपवान्, तथा बलवान् बुध ने सोम की आज्ञा लेकर तप करने का निश्चय किया। उन्होंने विश्वेश्वर से सुरक्षित परम पावनी काशीपुरी में जाकर* 'बुधेश्वर' नामक शिवलिंग की स्थापना की और बालेन्दुतिलकधारी भगवान् शिव के सामने अतिशय उग्र तप करना प्रारम्भ कर दिया। दस हज़ार वर्ष तप करने के अनन्तर श्रीभगवान् शंकर उस बुधेश्वर नामक लिंग से प्रकट हुए और उन से कहने लगे "हे बुध! मैं तुम्हारी तपस्या से परम प्रसन्न हूँ। जो वर माँगना हो, माँगो।" इस प्रकार हृदय को आनन्द देनेवाले वचन सुनकर बुध ने आँखें खोलीं और सामने उसी लिंग से उत्पन्न शशिशेखर भगवान् को देखा। वे हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे-"हे देवदेव! आप ज्योतिःस्वरूप हैं, विश्वरूप होते हुए भी रूपातीत हैं, भक्तों के सब दुःखों को दूर करनेवाले हैं, आप परम कृपालु हैं, और शरणागतजनों की सब प्रकार रक्षा करते हैं। हे गिरिजेश! मैं स्तुति करना नहीं जानता। हे महादेव! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे यह वर

* पावनपुरी काशी में यह बुद्धेश्वर शिव संकटाघाट पर आत्मवीरेश्वर के मन्दिर में हैं।

दीजिये कि आप के चरणकमलों में मेरी अटल भक्ति बनी रहे।"

बुध के ऐसे भक्तिपूर्ण वचन सुनकर श्रीमहादेवजी बोले "हे महाभाग! तुम्हारा लोक सब नक्षत्र-लोकों से ऊपर होगा और सूर्यादि ग्रहों के साथ २ तुम्हारी भी पूजा होगी। इन बुधेश्वर की आराधना से लोगों की दुर्बुद्धि का विनाश होगा और सद्बुद्धि उत्पन्न होगी। इतना कहकर भगवान् शम्भु कैलास को चले गये और बुध स्वर्ग-लोक में विराजमान हुए। बुधेश्वर के पूजन का माहात्म्य स्कन्दपुराण में इस प्रकार बतलाया गया है :—

"काश्यां बुधेश्वरसमर्चनलब्धबुद्धिः
संसारसिन्धुमधिगम्य नरो ह्यगाधम्।
मज्जेन्न सज्जनविलोचनचन्द्रकान्तिः
कान्ताननस्त्वधिवसेच्च बुधेऽत्र लोके॥ ६६॥"

(काशीखण्ड अ० १५)

एकइसवाँ रत्न

काशी

जीवमात्र में जैसे मनुष्य श्रेष्ठ हैं, और मनुष्यों में जैसे

*ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, वैसे ही पृथ्वी में तीर्थ श्रेष्ठ हैं, तीर्थों में काशी श्रेष्ठ है ! क्योंकि वाराणसी साक्षात् करुणामयी अलौकिक मूर्ति है । जहां प्राणिमात्र सुखपूर्वक देह त्यागकर उसी समय विश्वेश्वर के ज्ञानरूप ज्योति में प्रवेश कर तद्रूप कैवल्य पद को प्राप्त करते हैं । यह पञ्चक्रोशात्मिका काशी नामक भूमि यथार्थ में तेजोमय (मूर्तिमान्) शिवलिंग है । जिस तेजोमय लिंग का भगवान् नारायण (विष्णुजी) और ब्रह्मा ने (पहले) दर्शन किया था, वही लिंग लोक और वेद में काशी के नाम से विख्यात है ।

ब्रह्माजी ने भगवान् की आज्ञा से ब्रह्माण्ड की रचना की । तदनन्तर अपने २ कर्मों से बँधे हुए प्राणी मुझे किस प्रकार प्राप्त करेंगे ऐसा विचारकर दयालु शिवजी ने पंचक्रोशी(काशी) उस ब्रह्माण्ड से पृथक् रखी । यह लोकों में कल्याण देनेवाली, कर्मों का नाश करनेवाली तथा मोक्ष को प्रकाश करनेवाली है । इस नगरी में मुक्ति देनेवाले ज्योतिर्लिंग को स्वयं भगवान् शिवजी ने स्थापित किया है ।

ब्रह्मा का दिन पूरा होने पर भी यह काशी नष्ट नहीं होती, प्रलयकाल में भी शिवजी इसे त्रिशूल पर धारण किये रहते हैं ।

काशी से अन्य तीर्थों में जीवों को सारूप्यादि मुक्ति प्राप्त होती है परन्तु यहाँ प्राणियों को केवल उत्तम मुक्ति प्राप्त हुआ

* ब्राह्मणा जंगमं तीर्थम् ।

करती है । जिन प्राणियों को कहीं भी गति न मिले उसकी गति वाराणसीपुरी में होती है । * यहाँ पर देवता भी मरण की इच्छा करते हैं तो औरों की बात ही क्या है । † यह सर्वदा शिव की प्रिय तथा भुक्ति-मुक्ति को देनेवाली है । ब्रह्मा, विष्णु, सिद्ध, योगी, तथा मुनि सभी काशीजी की प्रशंसा करते हैं ।

अविमुक्तपुरी काशीजी ने शंकरजी से प्रार्थना की थी कि हे कालरूप रोग की औषधि ! तीनों लोकों के पति ! आप ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं के साथ यहाँ पर निरंतर निवास करें । इस प्रकार प्रार्थना करने पर जगत् के राजा विश्वनाथजी लोकों के उपकार के अर्थ यहाँ निवास किया ।

"इत्येवं प्रार्थितस्तेन विश्वनाथेन शंकरः ।
लोकानामुपकारार्थं तस्थौ तत्रैव सर्वराट् ॥ ३६ ॥

(शि० पु० ४ सू० अ० २७)

---

* अमरा मरणं सर्वे वांछंति च परे च के ॥२८॥
भुक्तिमुक्तिप्रदा काशी सर्वदा शंकरप्रिया ॥ (शि०पु० को० स० ४)

† KASHI–BENARES काशी–बनारस E. I. रेलवे का एक बड़ा स्टेशन है ।

॥ भैरवी ॥

विश्वनाथ चरण कमल ध्यावो मनलाई। जन्म मरन छूटिजाय सतगति ह्वै जाई ॥ वि० ॥ जाके पुरको प्रभाव रह्यो जगत छाई। तीरथ सुरसिद्ध सबै बास करत आई ॥ विश्व० ॥ देस देस के नरेश आवत सब धाई। काशी में मृत्यु चहत मांगत हरखाई ॥ विश्व० ॥ विधिहरिहर पुरते महिमा अधिकाई। काशी कैवल्य देत निगमागम गाई ॥विश्व०॥ शिव पद अनुराग जाग भाग बड़े भाई। बिगरी जन्म जन्मन की देत शिव बनाई ॥ विश्व० ॥ असी बरुन बीच मरे देखि सुर सिहाई। शंकर तेहिं ज्ञान देत मंत्रको सुनाई ॥ विश्व० ॥ अप्सरा अनेक करैं तान गान गाई। दिव्य देह पाय चले दुन्दुभी बजाई ॥विश्व०॥ जो गति जपतप औ दान किये ना दिखाई। सोइ मुक्ति बांटत शिव निस दिन हरखाई॥ विश्वनाथ चर० ॥ छाड़ो सब खटक भटक आनन्द बन जाई। देबिको सहाय ताहि शंकर मिलिजाई ॥ विश्वनाथ० ॥ १२ ॥

श्रीगणेशाय नमः ।
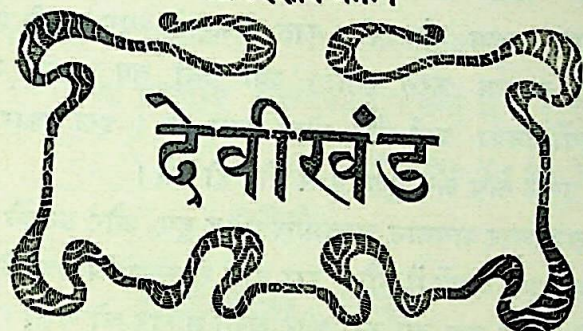
बाईसवाँ रत्न

सतीजी

एक समय लीलाधारी परमेश्वर शिव एकान्त में बैठे हुए थे। वहीं पर सती भी विराजमान थीं। आपस में वार्तालाप हो रहा था। उसी वार्तालाप, के प्रसंग में शिवजी के मुख से सती के श्याम वर्ण को देख कर 'काली' ऐसा शब्द निकल गया। इस वचन को सुनकर सती जी को हार्दिक दुःख हुआ और वे शिवजी से बोलीं—हे महाराज! आपने मेरे काले रंग को देख कर मार्मिक वचन कहा है। इसलिये मैं वहाँ जाऊँगी, जहाँ मेरा नाम गौरी पड़े और जब तक गौरी न हो जाऊँगी तब तक आपको मुख न दिखाऊँगी। ऐसा कह कर अपनी सखियों को साथ लेकर

परम ऐश्वर्यवती सती * प्रभास तीर्थ में तपस्या करने चलीं। वहां ‡ 'गौरीश्वर' नामक लिङ्ग का संस्थापन कर विधिवत् सङ्गोपाङ्ग पूजा और दिन रात एक पैर पर खड़ी होकर कठिन तपस्या करने लगीं। ज्यों ज्यों तप बढ़ता जाता त्यों त्यों उनका वर्ण गौर होता जाता था। इस प्रकार धीरे धीरे उनके सब अंग पूर्णरूप से गौर हो गये।

तदनन्तर भगवान् चन्द्रभाल प्रगट हुए और उन्होंने सती को भावपूर्ण शब्दों में 'गौरी' इस नाम से सम्बोधित करके कहा कि हे प्रिये! अब तुम उठो और अपने मन्दिर को चलो।

हे कल्याणि! अभीष्ट वर माँगो, तुम्हारे लिये कुछ भी अदेय नहीं है, तुम्हारी तपस्या से मैं परम प्रसन्न हूँ।

तब सती ने हाथ जोड़कर प्रार्थनापूर्वक कहा—हे महाराज! आपके चरणों की दया से मुझे किसी बात की कमी नहीं है। मुझे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। परन्तु यह प्रार्थना अवश्य करूँगी कि जो नर या नारी इन गौरीश्वर शिवजी का दर्शन करे वह सात जन्म तक सौभाग्य समृद्धि से पूर्ण हो और उसके वंश में किसी को भी दारिद्र्य तथा दौर्भाग्य का सामना न करना पड़े। मरे स्थापित लिङ्ग की पूजा करने से परम पद की प्राप्ति हो।

---

* प्रभास क्षेत्र "विरबल" जूनागढ़ राज्य में है।

‡ विन्ध्याचल E. I. रेलवे में पड़ता है। सतीजी ने विन्ध्याचल में ही गौरी होने के लिये तप किया था।

गौरी की इस प्रार्थना को श्रीमहादेवजी ने परम हर्ष के साथ स्वीकार कर लिया और अपने साथ लेकर कैलास को पधारे।

तथेत्यहं प्रतिज्ञाय यत्र स्थाने स्थितोऽभवम्।
देव्या सह महादेवि प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥

(प्रभा० खं० अ० ६६)

तेईसवाँ रत्न

जगन्माता लक्ष्मी।

एक वार सूर्यसुत रेवंत उच्चैःश्रवा नामक अश्व पर चढ़कर वैकुण्ठधाम को गये। लक्ष्मीजी अपने मन्दिर में बैठी हुई उनके अश्व की मनोहारिणी गति देख रही थीं। उसी समय विष्णु भगवान् उनके समीप आये और उनसे पूछने लगे कि हे प्रिये! तुम क्या देख रही हो? भगवान् ने कई बार यही प्रश्न किया; पर लक्ष्मीजी इतनी तन्मयता के साथ अश्व को देख रही थीं कि न तो उन्हें भगवान् के आने का पता लगा और न उनके प्रश्न ही का।

भगवान् को यह बात बुरी लगी और वे कुपित होकर कहने लगे कि हे लक्ष्मी! तुम इस अश्वको देखकर मोहित हो

गयीं और मेरे प्रश्न करने पर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। इस लिए मैं तुम्हें यह शाप देता हूँ कि तुम भूलोक में जाकर अश्वयोनि में जन्म लो। तुम बहुत चञ्चल हो और सभी जगह रमण करने लगती हो। इसलिए आज से तुम्हारे चञ्चला और रमा ये दोनों नाम पड़ जायँगे।

यह शाप सुनते ही लक्ष्मीजी के तो प्राण सूख गये और वे बड़े करुण स्वर से विलाप करने लगीं और डर के मारे काँपती हुईं हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगीं कि हे भगवन्! इस छोटे से अपराध पर आप इतना क्रोध क्यों करते हैं? हे दयानिधे! मैंने तो आपको इतना क्रोध करते कभी देखा ही नहीं था। मेरे ऊपर तो आप सदा कृपा करते आये हैं। शत्रुओं के ऊपर कोप करना चाहिये। मुझ दासी के ऊपर आपको क्यों क्रोध आगया? हे आराध्य देव! मैं आपके सामने ही प्राण छोड़े देती हूँ। आपसे अलग रहकर मेरा जीना व्यर्थ है।

लक्ष्मीजी के करुणापूर्ण वचन सुनकर करुणानिधि भगवान् को दया आ गयी और वे कहने लगे कि मेरा वचन अन्यथा तो हो नहीं सकता, केवल इतना कह सकता हूँ कि कुछ काल तक तुम अश्वयोनि में रहोगी पश्चात् मेरे समान ही तुम्हारे एक पुत्र उत्पन्न होगा। उस समय इस शाप से तुम्हारी मुक्ति होगी और फिर मेरे पास आजावोगी।

भगवान् के शाप से लक्ष्मीजी ने भूलोक में आकर अश्वयोनि

में जन्म लिया और कालिन्दी तथा तमसा के सङ्गम पर भगवान् शंकर की आराधना करने लगीं।

तब कर्पूर के समान गौर शरीरवाले, पाँच मुखों से सुशोभित, नाग का यज्ञोपवीत धारण किये हुए, व्याघ्रचर्मधारी, कपालों की माला से विभूषित, भगवान् सदाशिव त्रिलोचन का अनन्य मन से एक हज़ार वर्षों तक ध्यान करती रहीं।

उनकी तपस्या से महादेवजी बहुत प्रसन्न हुए और लक्ष्मीजी के सामने वृषभ पर आरूढ़ हो, पार्वतीसमेत आकर कहने लगे—हे देवि! आप तो जगत् की माता हैं और भगवान् विष्णु की परम प्रिया हैं। आप भुक्ति-मुक्ति देनेवाले, सम्पूर्ण सचराचर जगत् के स्वामी विष्णु भगवान् की आराधना छोड़कर मेरा भजन क्यों करती हैं? वेद का कथन* है कि स्त्रियों को सर्वदा अपने पति की ही उपासना करनी चाहिये। उनके लिये पति के अतिरिक्त और कोई देवता ही नहीं है। पति कैसा भी हो, वह स्त्री का आराध्य देव होता है। भगवान् नारायण तो पुरुषोत्तम हैं, उनका भजन छोड़कर आप मेरा भजन क्यों करती हैं?

(*) वेदोक्तं वचनं कार्यं नारीणां देवता पतिः।
नान्यस्मिन् सर्वथा भावः कर्तव्यः कर्हिचित् क्वचित् ॥ २२ ॥
पतिशुश्रूषणं स्त्रीणां धर्म एषः सनातनः।
यादृशस्तादृशः सेव्यः सर्वथा शुभकाम्यया ॥ २३ ॥

(देवी भा० ६-१८)

लक्ष्मीजी ने कहा हे आशुतोष ! मुझे मेरे पतिदेव ने अश्वयोनि में जन्म लेने का शाप दे दिया है। इस शाप का अन्त पुत्र होने पर बताया है; परन्तु बिना पति-संगम के पुत्र का होना असम्भव है। वे तो इतने दिनों से मुझे छोड़कर वैकुण्ठ में निवास कर रहे हैं और मेरी सुधि भी नहीं लेते। हे देवदेव ! आप की उपासना मैंने इसलिये की कि मुझे यह ज्ञात है कि आप और वे भिन्न नहीं हैं। आप और वे एक ही हैं, केवल रूप का भेद है, यह बात मेरे पतिदेव ने ही मुझे बतायी थी। आपका और उनका एकत्व जानकर ही मैंने आपकी आराधना की है। हे भगवन् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मेरा यह दुःख दूर कीजिये।

शिवजी ने कहा कि हे देवि ! मेरी और विष्णु की एकता को * वेदतत्त्ववेत्ता ब्रह्मज्ञानी ऋषि और देवता भी नहीं जानते। साधारण मनुष्य तो मेरी भक्ति करते हुए उनकी निन्दा करने लगते हैं और उनकी भक्ति करते हुए मुझे गालियाँ देते हैं। यह नहीं जानते कि मैं उनका सेवक भी हूँ और स्वामी भी 'सेवक सखा स्वामि सिय-पिय के'। हे रमे ! आपने मेरा और उनका ऐक्य कैसे जान लिया ?

---

* एकत्वं च न जानन्ति देवाश्च मुनयस्तथा।
ज्ञानिनो वेदतत्त्वज्ञाः कुतर्कोपहताः किल ॥ २४ ॥

(देवी भा० ६-१८)

लक्ष्मीजी ने कहा कि एक बार मेरे पतिदेव ध्यान कर रहे थे। ध्यान से निवृत्त होनेपर मैंने उनसे कहा कि हे भगवन्! मैं तो आपही को सबसे बड़ा देवता समझती हूँ। फिर आप किस देवता का ध्यान कर रहे हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि हे प्रिये! मैं महादेवजी का ध्यान करता हूँ। मुझमें और उनमें कोई भेद नहीं है। शिवजी मेरे प्रिय प्राण हैं और मैं उनका परम प्रिय हूँ। जो लोग हम दोनों को भेदभाव से देखते हैं, वे नरक को जाते हैं*। हे भगवन्! तभी से मेरे हृदय में दृढ़ भावना हो गई कि आप और मेरे पतिदेव एक ही हैं, केवल दो नाम और दो रूप हैं। हे देव! इसीसे मैंने आपकी आराधना की है। आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये।

शिवजी इस बातसे बहुत प्रसन्न हुए और विष्णुदेव से इस विषय में प्रार्थना करने का वचन देकर विष्णुलोक को चले गये। शिवजी के कहने से विष्णु भगवान् अश्व का रूप धारणकर, लक्ष्मीजी के पास गये और उनके संगम से एकवीर नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसीसे 'हैहय-वंश' की उत्पत्ति हुई है। पुत्र उत्पन्न करने के अनन्तर ही लक्ष्मीजी के शाप की

---

* शिवस्याहं प्रियः प्राणः शंकरस्तु तथा मम।
उभयोरंतरं नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः ॥ ४६ ॥
नरकं यान्ति ते नूनं ये द्विषन्ति महेश्वरम्।
भक्ता मम विशालाक्षि! सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ ४७ ॥
(देवी भा० ६-१८)

निवृत्ति हो गई और वे वैकुण्ठ में जाकर भगवान् का सहवास-जन्य अनुपम सुख भोगने लगीं ।

"स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥१०॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ ११ ॥"
(कैवल्योपनिषद्)

चौबीसवाँ रत्न

देवमाता श्रीअदितिजी ।

महाराज दक्ष प्रजापति के 'अदिति' और 'दिति' नामकी दो कन्याएँ थीं । महर्षि कश्यप से उनका परिणय हुआ था । कुछ दिनों बाद अदिति के गर्भ से 'देवता' और दिति के गर्भ से 'दैत्य' उत्पन्न हुए । इन दोनों में स्वाभाविक शत्रुता के कारण द्वन्द्व युद्ध हुआ । उसमें देवगण बेतरह हार गये और दैत्य विजयी हुए । जब देवगण भयभीत होकर इधर-उधर भाग चले, तब देवमाता अदिति अमरेश्वर में आकर आशुतोष भगवान् शिवजी के ध्यान में मग्न होकर, तपस्या करने लगीं ।

तप करते २ जब चार युग बीत गये, तब वहाँ भूतल से

एक मनोहर और देदीप्यमान शिवलिंग का प्रादुर्भाव हुआ। अदिति उस अद्भुत देवदेव की अनेक प्रकार के स्तोत्रों से स्तुति कर ही रही थी कि उसी समय वहाँ 'आकाशवाणी' हुई, कि हे कल्याणि! तुम्हारे चित्त में जो मनोरथ हो, सो माँगो। तुम क्या चाहती हो? मैं तुम्हारे ऊपर सन्तुष्ट हूँ। मेरे पास कोई पदार्थ तुम्हारे लिये अदेय नहीं है। यह सुनकर साष्टाङ्ग प्रणाम के बाद अदिति ने कहा—हे सुरश्रेष्ठ! मेरे पुत्र (देवगण) दैत्यों द्वारा देवासुर संग्राम में मारे गये हैं, उन्हें आप 'अमर' कर देवें और वे सभी विजयी होकर पुनः जीवित हो जायँ।

भगवान् ने 'एवमस्तु' कहकर कहा कि जो मेरे इस लिंग का दर्श-स्पर्श करके युद्ध में जायगा, वह अवश्य विजयी होगा और शत्रुओं के मारे कदापि न मरेगा।

"एतल्लिंगं मदीयं ये स्पृष्ट्वा यास्यन्ति संयुगे।
अवध्यास्ते भविष्यन्ति यावत्संवत्सरं शुभे ॥१५॥"

॥ भैरवी ॥

मैं शिव नाम काम तजि गैहौं ॥ टेक ॥
जन्म जरादिक दोष जगत के ते सब धोय बहैहौं।
ह्वै हैं बिमल हृदय तब मेरो उमा महेश बसैहौं ॥
जाको भजत बेद बिधि हरिहर ताही को ह्वै रैहौं।
देबिसहाय सदा शिव सन्मुख प्रेम प्रभाव दिखैहौं ॥ १ ॥

पच्चीसवाँ रत्न

प्रभा ।

सूर्यदेव की पत्नी प्रभा सौन्दर्य-विहीन होने के कारण चित्त में बहुत दुःखित रहती थीं। उनके पति सूर्य भी उनसे उतने सन्तुष्ट नहीं रहते थे, जितना कि पति को पत्नी के साथ रहना चाहिये। इस कारण प्रभाको अपने मनमें और भी अधिक संताप होता था। अन्त में सौन्दर्य प्राप्ति के लिये प्रभा ने वाञ्छित फलदाता आशुतोष भगवान् शंकर की आराधना करने का निश्चय किया।

इस निश्चय के अनुसार उन्होंने तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया। प्रभाने एक शिवलिंग स्थापित कर उनके सामने निराहार रहकर केवल वायु पीकर एक वर्ष तक उग्र तप किया। वे सर्वदा अनन्यमनस्क हो, भगवच्चरण का चिन्तन किया करतीं और सभी सांसारिक व्यापारों को छोड़ कर शिवार्चन में तत्पर रहती थीं। उनकी इस उग्र तपस्या से आशुतोष भगवान् शिवजी बहुत प्रसन्न हुए और पार्वती को साथ लेकर प्रभा के सन्मुख आकर पूछने लगे कि हे देवि! तुम किस फल की प्राप्ति के लिये इतना उग्रतप करके अपने कोमल शरीर को कष्ट दे रही हो? सूर्य मेरी ही मूर्ति हैं, अतः मुझसे निःसङ्कोच भाव से

अपना अभिप्राय कह दो। परम कल्याणमूर्ति प्रसन्नवदन महादेवजी को अपने सामने खड़े देखकर प्रभा देवी हाथ जोड़ कर बोलीं – हे महाराज! आप सर्वान्तर्यामी हैं, हृदय की बात जानते हैं, आप से कुछ छिपा नहीं है। हे भगवन्! मैं सौन्दर्य-हीन हूँ, अतः अपने पति सूर्यदेव को पूर्णरूप से सन्तुष्ट और प्रसन्न नहीं कर सकती। *पति चाहे पत्नी पर प्रेम रखता हो या न रखता हो, गुणवान् हो चाहे गुणहीन, निर्धन हो या धनवान्, कुरूप हो अथवा सुरूप, वह नारी के लिये आराध्य देव ही है। †हजार अश्वमेध यज्ञों द्वारा पूजन करने से जो फल प्राप्त होता है उसी फल को स्त्री केवल पतिव्रत धर्म से प्राप्त कर लेती है। स्त्रियों के लिये पति से बढ़कर और कोई पूजनीय नहीं है। अतः पति को सन्तुष्ट और प्रसन्न करना ही स्त्रीजाति का एकमात्र धर्म है। हे परमेश्वर! मैं कुरूपा हूँ, अतः अपने पति-देव को प्रसन्न नहीं कर सकती। यही एकमात्र मुझे दुःख है। इस अगाध दुःख से मेरा उद्धार कीजिये।

---

* प्रभोवाच।

नान्यो देवस्तथा शम्भो भर्ता पुष्यति न क्वचित्॥
सगुणो वापि चाख्यातो निर्गुणो द्रव्यवर्जितः॥ ६॥
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः स्त्रीणां भर्ता हि देवता॥
दुर्भगात्वेन दग्धाहं लोकमध्ये महेश्वर॥ ७॥

† शतक्रतुसहस्रेण यजेत्तत्प्राप्नुयात्फलम्॥
पतिव्रतात्वमापन्ना या स्त्री विन्दति केवलम्॥ ७१॥

प्रभा के ऐसे मर्मस्पर्शी वचन सुनकर भगवान् शंकर ने वर दिया कि तुम सूर्य की बड़ी प्यारी होओगी और अब से सूर्य तुम्हारे ऊपर बहुत प्रेम करेंगे। शिवजी ने सूर्य का ध्यान किया और सूर्यदेव नर्मदाके उत्तर तट से आते हुए दिखायी पड़े। सूर्यने आकर पार्वती समेत भगवान् सदाशिव को अभिवादन किया और हाथ जोड़ कर पूछने लगे कि हे देवदेव ! आज मेरे ऊपर कैसी कृपा हुई और मुझे क्यों स्मरण किया ? शिवजी ने प्रसन्न होकर उत्तर दिया कि हे सहस्ररश्मे ! यह तुम्हारी प्रभा नाम की पत्नी परम पतिव्रता है। पतिसेवा करना ही इसने अपना एकमात्र ध्येय बना रक्खा है। इसके ऊपर तुम प्रसन्न होओ और इसे सदा अपने साथ रक्खो।

सूर्यदेव ने भगवान् के वचनों को नत-मस्तक होकर स्वीकार किया। तब प्रभा ने प्रार्थना की कि हे सदाशिव ! मैं यह एक और वर आप से माँगती हूँ कि इस लिंग में आप सदा अपने अंश से वर्तमान रहें और भक्तों के सब प्रकार के पापों को दूर किया करें। भगवान् ने 'तथास्तु' कहकर शिवलोक को प्रयाण किया और प्रभा देवी सूर्यके साथ रहकर परम आनन्दित हुईं। प्रभेश्वर का माहात्म्य इस प्रकार लिखा है:—

"वाचिकं मानसं पापं कर्मणा यदुपार्जितम् ।
तत्सर्वं नाशमायाति तस्य लिंगस्य दर्शनात् ॥"

छब्बीसवाँ रत्न

रति

जब कि इस विश्व की रचना नहीं हुई थी। एक वार ब्रह्माजी प्रजा उत्पन्न करने की कामना से ध्यान कर रहे थे। उसी समय सुन्दर अलङ्कारों से अलङ्कृत एक परम तेजस्वी पुरुष उत्पन्न हुआ। ब्रह्माजी ने उसका नाम कामदेव रखा और उसके रहने के लिये कामिनियों के कटाक्ष, केशपाश, जघन, स्तन, नाभि, कुक्षि, अधर, वसन्त, कोकिल की बोल एवं चन्द्रमा की चाँदनी, ये दस स्थान दिये। सदसद्विवेकी, विद्वान्, उग्र तापस, जितेन्द्रिय वीर, सर्वशक्तिमान् देव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, भूत, प्रेत, पिशाच, कृमि, कीट, पतङ्ग आदि सभी जीवधारियों के मन को चञ्चल कर देने की शक्ति कामदेव में थी। कामदेव ने अपनी शक्ति की परीक्षा के लिये भगवान् शंकर के ऊपर अपना प्रभाव डालना चाहा और उसने इसी उद्देश्य से पुष्पवाण की वर्षा से शिवजी का मन चञ्चल कर दिया। भगवान् को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने अपने तीसरे नेत्र से उसे भस्म कर डाला।

कामदेव के भस्म होने से उसकी पतिव्रता पत्नी 'रति' पतिवियोग से बहुत दुःखित हो कातर स्वर से विलाप करने लगीं। उनका करुण-क्रन्दन सुनकर वहाँ के प्राणिमात्र व्याकुल

हो उठे। सभी को इसके पतिवियोग से बड़ा कष्ट हुआ, इतने में आकाशवाणी हुई कि हे विशालाक्षि ! तुम मत रोओ। आशुतोष भगवान् शंकर की आराधना करो। उनके वरदान से तुम्हारे पति पुनः जीवित हो उठेंगे।

ऐसी आशाप्रद आकाशवाणी सुनकर रति को धैर्य हुआ और वे तपस्या करने के लिये उद्यत हुईं। उन्होंने बड़ी श्रद्धा और विश्वास के साथ *भगवान् शंकर की आराधना की। उनकी आराधना से शंकर भगवान् वहुत प्रसन्न हुए और वर देने के लिये रति के सन्मुख आये। रति ने हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की और कहा कि हे त्रिलोचन ! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मेरे पतिको जीवन-दान दीजिये। मैं और कुछ नहीं चाहती।

भगवान् शङ्कर ने कहा कि इस समय तो यह अङ्ग–रहित (अनङ्ग) होकर ही संसार में अपना प्रभाव जमायेगा। जगत् के जीवमात्र इसके वश में रहेंगे। बड़े बड़े देवता, ब्रह्मर्षि और राजर्षियों पर भी इसका असाधारण प्रभाव रहेगा और द्वापरयुग में यह रुक्मिणी के गर्भ से भगवान् कृष्ण के यहाँ जन्म लेगा और इसका नाम 'प्रद्युम्न' होगा। उस समय यह फिर साकार रूप धारण करेगा। इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। समय आने पर कामदेव ने पुनर्जीवन पाया

* हिमालय पर केदारनाथ तथा गोपेश्वर के पास रतीश्वर महादेव हैं, वहाँ ही रतिकुण्ड भी है।

और उन्होंने अवन्ती में जाकर शिवलिंग स्थापित किया। उसकी आराधना के फल से कामदेव ने चिरकाल तक रति के साथ रमण कर परमानन्द प्राप्त किया।

कामदेव के संस्थापित लिंग का नाम * 'कामेश्वर' पड़ा। इनके दर्शन करने से ऐश्वर्य, उत्तम भोग, सर्वगुणसम्पन्न रमणी आदि समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। जो इनकी आराधना करते हैं उनकी सन्तति सुन्दर और नीरोग होती है। अन्त में देवलोक में प्राप्त होकर वे मनुष्य सब सुखों को भोगते हैं। स्कन्दपुराण के आवन्त्यखण्ड में इनकी आराधना का बड़ा माहात्म्य बताया गया है:—

"चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां ये मां पश्यन्ति भक्तितः ।
ऐश्वर्यं परमान् भोगान् स्त्रियो दिव्यकलान्विताः ॥५०॥
अरोगा सन्ततिस्तेषां भविष्यति न संशयः ।
देवलोकं समासाद्य मोदिष्यन्ति हि ते नराः ॥५१॥

---

* हिमालय में गोपेश्वर के पास 'कामेश्वर' शिवजी हैं। वहाँ ही शिवजी ने कामदेव को भस्म किया था।

सत्ताईसवाँ रत्न

सावित्रीजी

पितामह ब्रह्मा की पत्नी देवी सावित्री ने लोकोपकार के लिये प्रभासक्षेत्र* में शिवलिंग स्थापित कर उनकी विधिवत् पूजा की। इसके बाद इन्द्रियों को वश में करके अन्न-जल तक त्याग कर शिवजी के ध्यान में तल्लीन हो गयीं।

सावित्री की घोर तपस्या से प्रसन्न होकर हाथ में त्रिशूल लिये दयालु शिवजी प्रकट हुए। भगवान् शिवजी को अपने सामने देखा तो सावित्री ने प्रणाम किया और स्तुति करने लगीं। उन्होंने कहा—हे देव! यह जगत् आप से उत्पन्न होता और अन्त में आप ही के द्वारा नष्ट भी होता है। आप सनातन रूप हैं। सत्य कामनावाले सज्जन पुरुषों के लिये आप ही उत्तम लोक हैं। आप ही मुक्त पुरुषों के लिये अपवर्ग रूप हैं। आप ही आत्मज्ञानियों के लिए कैवल्यरूप हैं। जिससे कि देवता, असुर, मनुष्य आपको जान न सकें इसी विचार से ब्रह्मा आदि सिद्ध पुरुषों ने आपको अपने हृदयरूपी कन्दरा में छिपा रक्खा है। अतएव देवता और असुर भी आपको यथार्थ रीति से नहीं जान सकते। क्योंकि गुप्तरूप से उनके हृदय

* प्रभासक्षेत्र जूनागढ़ राज्य में है।

में रह कर आपने उनको मोहित कर दिया है। जो प्राणी श्रद्धा से, भक्तिपूर्वक आपकी शरण जाता है, उसे आप स्वयं अपना दर्शन देते हैं। आपका दर्शन करने के अनन्तर प्राणी को पुनर्जन्म एवं मरण का भय नहीं रहता और फिर उसको कुछ जानना भी शेष नहीं रहजाता।

इस प्रकार सावित्री की स्तुति सुन और उनके अन्तः करण का अभिप्राय जान कर ब्रह्मेश्वर शिवजी बोले—जो मनुष्य पूर्णिमा तिथि को इस कुण्ड में स्नान करके चन्दन, पुष्प आदि उपकरणों से तुम्हारे द्वारा स्थापित इस शिवलिंग का विधिवत् पूजन करेगा। उसको मैं उसकेमनचाहे वरदानदूँगा। अबसे मैं अपने अंश से इस लिंग में निवास करूँगा। इसका पूजन करनेवाला महापातकी होता हुआ भी सब पातकों से छूट जायगा। और अपनी सारी कामनायें पूर्ण कर साक्षात् शिव होजायगा। यह वरदान देकर शिवजी अन्तर्धान होगये और सावित्रीजी ब्रह्मलोक को चली गयीं।

"महापातकयुक्तोऽपि मुक्तो भवति पातकैः।
सर्वकामसमृद्धात्मा स भूयाद्वृषभध्वजः॥
इत्येवमुक्त्वा देवेशस्ततोऽन्तर्धानमागतः।
सावित्री ब्रह्मलोकं तु गता संस्थाप्य शंकरम्॥"

(प्रभास खं० अ० १५५)

अट्ठाईसवाँ रत्न

परम शैवा घुश्मा

दक्षिण दिशा में देवगिरि पर्वत के समीप भारद्वाज कुल में उत्पन्न सुधर्मा नामक एक तपस्वी ब्राह्मण निवास करते थे। वे सदा पठन-पाठन में अपना समय व्यतीत करते हुए त्रिकाल-सन्ध्या, देवार्चन एवं अग्निहोत्र आदि सत्कर्म में लगे रहते थे। घर के भी बड़े धनी थे, अतएव अतिथियों के सत्कार में पूर्ण सौजन्य प्रकट करने की उनकी आदत सी पड़ गयी थी। उनका सब समय और धन सत्कार्य्य में ही लगता था।

उनकी पत्नी का नाम सुदेहा था। वह भी अपने पति के समान ही धर्मपरायणा और गुणवती नारी थी। पति की सेवा और यथावत् उनकी आज्ञा का पालन करना ही उसका एकमात्र कार्य्य था। इस तरह सत्कार्य्य में समय व्यतीत करते, इनके आयु का अधिकांश समय बीत गया। इस कारण इनकी इन्द्रियाँ भी शिथिल हो चलीं; परन्तु अब तक कोई भी सन्तान नहीं हुई थी इससे उनकी सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी नहीं था।

सन्तति के अभाव से वे दोनों बहुत चिन्तित रहा करते थे। पुत्र न होने से सुदेहा को जो दुःख था, उसका अनुमान निः-सन्तान माताएँ ही कर सकती हैं। विद्वान् सुधर्मा अपनी पत्नी

को शास्त्र-पुराणों की अनेक बातें सुना २ कर समझाते रहते और कहते थे कि हे प्रिये! संसार में कौन किसका पिता, कौन किसकी माता और कौन किसका पुत्र है? संसार अपने स्वार्थ के लिये सब कुछ करता और पाप-पुण्य का भागी बनता है। ऐसी दशा में पुत्र उत्पन्न होकर ही क्या करेगा? परन्तु सती सुदेहा को इन बातों से सन्तोष नहीं होता था। वह सदा कुछ उपाय करने की ही प्रार्थना किया करती थी और कभी २ तो यहाँ तक कहा करती कि यदि आप सन्तान का कुछ उपाय नहीं करेंगे तो मैं अपना शरीर त्याग दूँगी।

एक दिन सुदेहा ने अपने पति से कहाः—प्राणनाथ! अब मेरे गर्भ से तो कोई सन्तान होने की सम्भावना है ही नहीं। अतः आप दूसरा विवाह कर लें तो बड़ा अच्छा हो। ऐसा करने से हम लोगों की वृद्धावस्था बड़े सुख से कटेगी। दूसरी भार्या से अवश्य ही पुत्र होगा, यह मेरा आन्तरिक विश्वास है। सुधर्मा ने कहा—प्रिये! अभी तुमको कहने में तो अच्छा मालूम पड़ता है; परन्तु जब सपत्नी (सौत) आ जायगी, तब पछताओगी। उस समय घर में अशान्ति का राज्य हो जायगा। तुम दोनों आपस में लड़ोगी, इससे मेरे भजन में भी बाधा आ पड़ेगी।"

सुदेहा ने पति की एक न मानी और घुश्मा नाम की अपनी एक बहिन को बुलाकर उसके साथ अपने पति का द्वितीय विवाह करा ही दिया। घुश्मा वहाँ आकर अपने पतिदेव

तथा वहिन की खूब सेवा करने लगी। वह सुदेहा को अपनी माता से बढ़ कर मानती और सदा उसकी आज्ञा में तत्पर रहती थी । सुधर्मा का नियम था कि वह प्रति दिन १०१ पार्थिव शिवलिंग वना कर उनकी विधिवत् पूजा करता और अन्त में घुश्मा उन्हें एक तालाव में छोड़ दिया करती थी।

इस प्रकार सदाशिव की आराधना करते २ वहुत दिन वीत गये। एक दिन भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर उसको एक सर्वगुण सम्पन्न तथा तेजस्वी पुत्र होने का वरदान दिया। शिवजी के वरदान से घुश्मा के गर्भ से सभी शुभ लक्षणों युक्त एक सुन्दर वालक उत्पन्न हुआ। उस अद्‌भुत वालक को देख कर सब लोग वहुत प्रसन्न हुए और अनेक प्रकार के उत्सव मनाने लगे ।

पहिले तो सुदेहा वालक को देखकर वहुत प्रसन्न हुई; परन्तु कुछ समय बीतने पर उसके मनमें ईर्ष्या (डाह) का अंकुर पैदा होगया और वह अपनी सपत्नी तथा उसके पुत्र को देख-देख-कर जलने लगी। वह लड़का ज्यों २ बढ़ता जाता था, त्यों २ सुदेहा का हृदय दुःखित होता था। समय आने पर जब उसका विवाह भी होगया और उसकी स्त्री घर में आई, तव तो वह जलभुन कर खाक हो गई। यद्यपि घर के सब लोग उसका आदर और पूरी सेवा करते थे। पर सुदेहा के हृदय की अग्नि शान्त नहीं होती थी। अन्त में उसने निश्चय किया

कि 'मेरे हृदय की शान्ति घुश्मा के आँसुओं से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं।'

इस निश्चय के अनुसार रात के समय, सुदेहा ने अपनी स्त्री की शय्या पर सोये हुए सपत्नी के पुत्र को छुरे से टुकड़े २ कर डाला। उन टुकड़ों को रातों रात समीपवर्ती तालाब में फेंक दिया और चुपचाप अपनी कोठरी में जाकर सो गई। इधर सवेरा हुआ घर के सब लोग अपने २ नित्य-कृत्य में लग गये। सुधर्मा सन्ध्या-पूजा करने लगे, घुश्मा पति की सेवा में लगी हुई थी और उस दिन सुदेहा भी गृहकार्य्य में तत्पर मन से काम करने लगी। उधर जब बहू की नींद खुली तो उसने अपने पति को न पाकर शय्या को एकदम रक्त से रँगा हुआ पाया। वह बेहोश हो गई, उसका हृदय सूख गया। कुछ देर बाद होश आने पर विलाप करती हुई उस नव-बधू ने घर के लोगों को यह कुसन्देश सुनाया। सुदेहा ने जब यह समाचार सुना तो अपना दोष छिपाने के लिए लोगों को दिखाती हुई छाती पीट २ कर रोने लगी; परन्तु सुधर्मा और घुश्मा दोनों अपने नियम का परित्याग न कर के देवार्चन करने में लगे रहे। इस महाविपत्ति के आने पर भी विचलित नहीं हुए। उन लोगों का पूर्ण विश्वास था कि जिस परमात्मा ने ऐसा सुन्दर पुत्र दिया है, वही उसकी रक्षा भी करेगा। वे सोचते थे कि 'शिव-भक्तों का त्रिकाल में भी कोई अनिष्ट नहीं हो सकता।'

मध्याह्न के समय घुश्मा अपने प्रति दिन के नियमानुसार पति से पूजित पार्थिव लिङ्गों का प्रवाह करने के लिये उसी तालाब पर गई जहाँ सुदेहा उसके बेटे को फेंक आयी थी। जब वहाँ से वह घर को लौटने लगी, तो उसका पुत्र उस तालाव से निकल कर पुकारने लगा—"माँ! मैं मर कर फिर जी उठा हूँ, मुझे अपने श्रीचरणों को छू लेने दो" यह सुन कर उसकी माता विस्मित सी खड़ी हो गई और लड़का आकर चरणों पर गिर पड़ा।

घुश्मा ने मन ही मन भगवान् की माया की खूब प्रशंसा की और जिस प्रकार मरण सुन कर दुःखित नहीं हुई थी, उसी प्रकार पुनः जीवन सुनकर आनन्दित भी नहीं हुई। इस अपूर्व धैर्य को देखकर आशुतोष भगवान् शंकर बहुत प्रसन्न हुए और दर्शन देकर कहने लगे—"घुश्मे! मैं तुमपर परम प्रसन्न हूँ, जो चाहो वह वर मुझसे माँग लो। तुम्हारी सपत्नी ने तुम्हारे पुत्र को काट डाला था, अतएव मैं स्वयं उसको अपने त्रिशूल से मारूँगा।"

घुश्मा ने हाथ जोड़कर कहाः—"प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरी वहिन की रक्षा करें, उसे मारें नहीं। उपकारी के साथ अपकार करनेवाला दण्ड का भागी अवश्य होता है, उसे दण्ड देना भी चाहिये, परन्तु आपके दर्शन से अब वह पापरहित हो गई है। इसलिये वह प्राणदान देने के योग्य हो चुकी इस तरह विनतीयुक्त वाक्य सुनकर शिवजी ने प्रसन्न होकर

कहा—"मैं तुम्हारे इस पवित्र भाव से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इसके अतिरिक्त भी जो वर माँगना हो, माँग लो, मैं देने को तैयार हूँ।"

घुश्मा ने निवेदन किया—"हे महेश्वर! यदि ऐसा है तो आप कृपा करके इस स्थान में निवास कीजिये, जिससे संसार का कल्याण हो।" महादेवजी ने प्रसन्न होकर 'एवमस्तु' कहा। तभी से साक्षात् भगवान् शंकरजी वहाँ रहने लगे और 'घुश्मेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध हुए। उस तालाब का नाम 'शिवालय' पड़ा। भगवान् ने यह भी कहा था कि आज से तुम्हारे वंश का विस्तार होगा। उसमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य अग्निहोत्र करनेवाले और परम विद्वान् होंगे, उन्हें कभी धन-धान्य की कमी न होगी और दीर्घायु होकर अन्त में शिवलोक (मुक्तिधाम) को जाया करेंगे।"

ऐसा कहकर शिवजी ने उसी समय शिवलिंग का रूप धारण कर लिया और उस दिव्य रूप से देखते २ अन्तर्धान होगये। उसी दिन से सुधर्मा के कुटुम्ब में आपस का द्वेषभाव दूर हो गया और सब लोग प्रेमपूर्वक परमानन्द का उपभोग करते हुए रहने लगे।

* घुश्मेश्वर महादेव के दर्शन से सब पाप दूर हो जाते हैं और उसी प्रकार सुख की वृद्धि होती है कि जिस प्रकार शुक्ल-

---

* हैदराबाद राज्य के दौलताबाद नामक स्थान से २६ मील पश्चिमोत्तर कोण में घुश्मेश्वर शिवलिंग आज भी मौजूद है।

पक्ष में चन्द्रमा की वृद्धि होती है। शिवपुराण में भी इसी प्रकार लिखा है:—

"ईदृशं चैव लिंगं च दृष्ट्वा पापैः प्रमुच्यते।
सुखं संवर्धते पुंसां शुक्लपक्षे यथा शशी ॥१॥"

(शिव पु० ज्ञानखं० ५२ अ० ८२)

उन्तीसवाँ रत्न

पतिव्रता अनुसूया (महर्षि अत्रि)

दक्षिण दिशा में एक परम पावन कामद नाम का वन था। तप करने से वहाँ अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होती थी। जिन्हें थोड़े समय में और थोड़े परिश्रम से वाञ्छित फल प्राप्त करना होता वे लोग दूर चलने का कष्ट उठाकर भी उसी वन में जाकर तप करते थे। वहाँ उनकी कामनाएँ पूर्ण हो जाती थीं। इसीसे उसका नाम कामद वन पड़ गया था।

ब्रह्माजी के मानस पुत्र महर्षि अत्रि भी अपनी परम पतिव्रता पत्नी अनुसूया के साथ उसी वन में निवास करते हुए भगवान् महेश्वर की आराधना में अपने समय का सदुपयोग कर रहे थे। अभाग्यवश एक बार ऐसा हुआ कि सौ वर्षों तक एक दम वर्षा नहीं हुई। आकाश से पृथ्वी पर पानी का एक

बूँद भी नहीं गिरा। पृथ्वी में कहीं जल के दर्शन तक नहीं होते थे। पत्तों और फलों को कौन कहे, वृक्ष तक सूख गए थे। ऐसे समय में शौचादि नित्य कर्म के लिए भी जल मिलना असंभव था। सभी जीव-जन्तु इस दीर्घ अवर्षण से घबड़ा उठे और खर वायु के प्रचण्ड वेग से प्राणिमात्र व्याकुल हो गये थे। समस्त संसार अत्युग्र ताप से जलने लगा। विश्व भर में हाहाकार मच गया।

महर्षि अत्रि उस समय भी समाधि लगाए परमानन्द में मग्न थे। उन्हें इस अवर्षण का पता ही नहीं था। गुरुजी को ध्यानमग्न देख क्षुधा से पीड़ित शिष्य लोग वहाँ से चल दिये। उनके साथ केवल अनुसूया उस निर्जन वन में रह गयीं। वे भला अपने पति को ऐसी अवस्था में छोड़ कर कहाँ जा सकती थीं। ऐसे समय में पति की परिचर्या और महादेवजी की आराधना करना ही उन्होंने इस भयंकर आपत्ति से बचने का एकमात्र उपाय समझा।

अनुसूया ने पतिदेव के समीप ही एक सुन्दर पार्थिव लिंग की स्थापना की और अवर्षण के कारण अन्य किसी उपचार के न मिलने से मानस उपचारों द्वारा भक्तिपूर्वक उनकी आराधना करने लगीं। इस तरह उनका पूजन कर हाथ जोड़ शिवजी की और अपने पति की परिक्रमा करतीं और उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करती थीं। अन्न-जल का उन्होंने एक-दम परित्याग कर दिया इन दोनों देवों की उपासना ही उनका एकमात्र

कार्य रह गया था ।

सुन्दरी 'सुकोमल' अनुसूया के उग्र तप को देख कर सभी दैत्य और दानव विह्वल हो गए। उनके तेज के कारण लोग उनसे उतने ही दूर रहते थे, जितनी दूर लोग आग से रहते हैं। उनके समीप आने की किसी को हिम्मत नहीं होती थी। देखते-देखते तपस्या में अनुसूया अत्रि से भी आगे बढ़ गयीं।

उस निर्जन वन में उस समय केवल अत्रि महर्षि और अनुसूया थीं। महर्षि अत्रि ध्यान में लीन थे। संसार में क्या हो रहा है, उन्हें इसका कुछ भी ज्ञान नहीं था। अनुसूया भी शिव की आराधना और पति की परिचर्या के अतिरिक्त कुछ जानती ही नहीं थीं। अत्रि के तप से और अनुसूया की आराधना से सभी देवता तथा ऋषि आश्चर्य करने लगे और दर्शन करने के लिए आये। गंगादिक पवित्र नदियों को भी आश्चर्य हुआ और वे वहाँ आ पहुँचीं।

वहाँ पहुँच कर सभी लोग आपस में विचार करने लगे कि अत्रि के तप का अधिक महत्त्व समझा जाय, अथवा अनुसूया का भजन अधिक प्रशंसनीय माना जाय। उन लोगों ने कहा कि तप तो बहुतों ने किया पर ऐसा भजन आज तक देखने-सुनने में कभी नहीं आया। ऐसा भजन आज तक किसी व्यक्ति ने किया ही नहीं। अनुसूया तो धन्य हैं ही अत्रि भी धन्य हैं, जिनकी पत्नी ऐसा दुष्कर भजन कर रही है। इस अनन्य श्रद्धा के साथ आज-कल कौन भजन कर सकता है?

इस प्रकार प्रशंसा करते हुए और सब लोग तो चले गये, केवल गंगाजी और महादेवजी रह गये। गंगाजी अनुसूया के पातिव्रत धर्म से मुग्ध होकर वहाँ रह गयीं और उन्होंने विना कुछ उपकार किये वहाँ से न हटने का निश्चय कर लिया। शिवजी उनके ध्यान के बन्धन में फँस गए और वहाँ से न हटे।

चौवन वर्ष के पश्चात् महर्षि अत्रि की समाधि टूटी। उठते ही उन्होंने जल माँगा। किन्तु जल का तो वहाँ कहीं नाम भी न था। बेचारी अनुसूया वड़ी चिन्तित हुईं और कमण्डलु लेकर जल की खोज में चलीं। उनके पीछे-पीछे सब नदियों में श्रेष्ठ गंगाजी भी चलीं। मार्ग में उन्होंने अनुसूया से कहा कि देवि! मैं तुमसे वहुत प्रसन्न हूँ, मुझसे जो कहो, मैं करने के लिए तैयार हूँ।

अनुसूया ने पूछा कि हे कमलनयने! आप कौन हैं और कहाँ से पधारी हैं? आप जब तक मुझे अपना पूरा परिचय न दें, तब तक मैं किसी प्रकार की प्रार्थना कैसे कर सकती हूँ? अतः मुझे अपना यथार्थ परिचय दीजिये।

गंगाजी ने कहा कि हे शुचिस्मिते! मैं गंगा हूँ और तुम्हारी पतिभक्ति तथा शिवभक्ति देख कर मुग्ध हो गयी हूँ। इसी लिए तुम्हारे समीप ही रहने लगी हूँ। मैं तुम्हारे ऊपर इस समय बहुत प्रसन्न हूँ। जो वर माँगना हो, सो माँगो।

गंगाजी के ऐसे वचन सुन कर अनुसूया ने उन्हें प्रणाम

किया और कहा कि हे सरिद्वरे ! मेरे पतिदेव अभी समाधि से उठे हैं और जल माँग रहे हैं। इस प्रान्त में पचासों वर्ष से जल नहीं बरसा। मैं जल लाऊँ तो कहाँ से लाऊँ। यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं, तो मुझे जल दीजिये। जिसे ले कर मैं अपने पति के समीप जाऊँ और उनकी इच्छा पूर्ण करूँ।

गंगाजी ने अनुसूया से एक गड्ढा खोदवाकर तैयार कराया और उस गर्त में प्रविष्ट हो गयीं। उसी समय वह गर्त जल से लबा-लब भर गया। इससे अनुसूया को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसमें से जल लेकर अपने पतिदेव के समीप चलीं और गंगाजी से कहने लगीं कि जब तक मेरे स्वामी यहाँ न आयें तब तक आप इसी गर्त में निवास करें।

गंगाजी ने कहा कि हे देवि ! यदि तुम मुझे एक महीने की अपनी तपस्या का फल दे दो, तो मैं इतनी देर तक इस गड़हे में निवास कर सकती हूँ। अनुसूया ने उनका कथन स्वीकार कर लिया और जल ला कर महर्षि को दिया। महर्षि ने उस पवित्र जल से आचमन किया और उसके लोकोत्तर स्वाद को चख कर बड़े प्रसन्न एवं विस्मित हुए।

मुनि ने इधर उधर दृष्टि फेरी तो आस पास के सभी वृक्ष सूखे पाये और दिशाएँ आग से जलती पायीं। मुनि ने अनुसूया से कहा कि मालूम होता है कि यहाँ बहुत दिनों से जल नहीं बरसा और इस जल का स्वाद विचित्र मालूम पड़ता है। जैसा जल मैं पिया करता था यह तो वैसा नहीं है, इस लिए

बताओ तुम यह जल कहाँ से लायी हो।

अनुसूया ने संकुचित होते हुए विनीत भाव से निवेदन किया कि हे पूज्य देव! भगवान् शंकर की आराधना से और आपकी सेवा से गंगाजी मेरे ऊपर प्रसन्न हो कर आयी हैं, यह उन्हीं का पवित्र जल है।

महर्षि अत्रि को यह सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ और वे कहने लगे कि हे सुन्दरि! तुम हँसी करती हो, या सत्य कहती हो? तुम कुछ भी कहो पर मुझे तो विश्वास नहीं होता। योगियों और देवों के लिए भी जो कार्य दुष्कर है वह तुमसे कैसे हो सकता है? मुझे तुम्हारे कहने पर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। यदि तुम्हारा कथन सत्य है तो तुम चल कर मुझे वह स्थान दिखाओ। विना देखे मैं विश्वास नहीं कर सकता।

अनुसूया ने मुनि को ले जाकर वह जलपूरित गर्त दिखा दिया। गंगाजी के दर्शन से मुनि के हर्ष का वारापार न रहा और वे हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगे कि हे देवि! आपने इस देश के ऊपर वड़ी कृपा की है। इस प्रान्त का बड़ा भाग्य है कि यहाँ आपका शुभ आगमन हुआ है। अब मेरी प्रार्थना यही है कि कभी भी आप इस देश का परित्याग न करें। अनुसूया ने भी इसी बात की प्रार्थना की।

उनका वचन सुन कर गंगाजी ने अनुसूया से कहा कि हे पतिव्रते! यदि तुम शिवजी की एक वर्ष की पूजा का फल तथा अपने पतिदेव की सेवा का फल मुझे दे दो, तो मैं यहाँ निवास

कर सकती हूँ। मुझे अधिक लोभ तुम्हारे इस पातिव्रत के फल का है। दान, स्नान, यज्ञ और योग इनमें से किसी से भी मुझे उतनी प्रसन्नता नहीं होती जितनी कि पातिव्रत से होती है। पतिव्रता को देख कर मुझे जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी किसी बात से नहीं होती। हे साध्वि! पतिव्रता स्त्री को देख कर मेरे भी पापों का नाश हो जाता है। इस लिए संसार के कल्याणार्थ यदि तुम अपने एक वर्ष के तप का फल देने को राजी होजाओ, तो मैं यहाँ अपना स्थिर निवास कर लूँ।

गंगाजी के ऐसे वचन सुन कर अनुसूया ने एक वर्ष के कठिन तप का फल दे दिया। क्योंकि महापुरुष लोग स्वयं कष्ट उठा कर दूसरों का उपकार करते हैं। ईख स्वयं तो कोल्हू में पेरी जाती है; परन्तु दूसरों को मीठा रस देती है। इसी प्रकार सोना स्वयं तो हथौड़ी से पीटा जाता; पर आभूषण के रूप में परिणत होकर दूसरे को विभूषित करता है। उक्त फल को पाकर गंगाजी ने उस स्थान में रहने का वचन दे दिया। वह गड़हा था तो केवल हाथ भर का; पर उसमें जल इतना हो गया कि कभी समाप्त ही न हो सके।

उसी समय अनुसूया द्वारा संस्थापित उस पार्थिव शिव-लिंग में से पञ्चमुख महादेवजी का आविर्भाव हुआ। उन्हें देखकर उन दोनों को वड़ा आश्चर्य हुआ। महादेवजी बोले कि हे साध्वि! मैं तुम्हारे ऊपर परम प्रसन्न हूँ। जो वर माँगना हो, माँगो।

अनुसूया ने हाथ जोड़ कर कहा कि हे महेश्वर ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो आप सदा इस वन में निवास करें और अपना सर्वःदुखहर दर्शन देकर संसार को भवबाधा से बचावें।

आशुतोष भगवान् ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और पार्वती तथा गंगाजी के साथ उस आश्रम में निवास करने लगे। उसी दिन वह दीर्घ अवर्षण भी समाप्त हो गया और काले मेघों ने मूसलधार जल बरसा कर क्षण भर में संसार का चिरकालीन ताप नष्ट कर दिया। उस वन में सब प्रकार के धान्य एवं फल-मूल उत्पन्न होने लगे। दूर दूर से ऋषि लोग आकर सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले उस वन में बस गए। इस प्रकार अनुसूया की तपस्या, महर्षि अत्रि के पुण्य एवं भगवान् शंकर की अनुकम्पा से उस वन में फिर नव-जीवन आ गया। इस परम पावन तीर्थ में निवास करने से मनुष्य को अवश्य ही मुक्ति मिलती है। * अत्रीश्वर महादेव के माहात्म्य सुनने से सब प्रकार के कल्याण होते हैं। लिखा है:—

"अत्रीश्वरस्य माहात्म्यं श्रुत्वा कल्याणमाप्नुयात्।
मनसा चिन्तयेद्यस्तु स स्वर्गमधिगच्छति॥

---

* बांदा जिले में चित्रकूट है। वहाँ से ५ मील अनुसूया तीर्थ है Karwi करवी स्टेशन G. I. P. रेलवे में है। वहाँ ही से चित्रकूट जाना होता है।

पठेद्द् यः परया भक्त्या श्रावयेत् प या मुदा ।
स विमुक्तः पातकेभ्यः शिवसायुज्यतां व्रजेत् ॥"
(शिवपुराण ज्ञान खं० ४१ अ०)
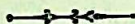
तीसवाँ रत्न

अहल्या

महर्षि गौतम की पत्नी अहल्या बड़ी सुन्दरी थीं। उनके सौन्दर्य को देखकर स्वर्ग की रम्भा, मेनका आदि अप्सराएँ भी लज्जित हो जाती थीं। उनके सौन्दर्य की कथा भूलोक में विस्तृत होती हुई स्वर्गलोक में देवराज इन्द्र के कानों तक पहुँच गयी। अतएव इन्द्र गौतम के आश्रम पर पहुँचे और अहल्या को देखकर मोहित हो गये। देवराज इन्द्र के सौन्दर्य और वैभव को देखकर अहल्या का भी चित्त चञ्चल हो उठा। और दोनों में प्रेम हो गया।

गौतम मुनि फल, मूल, समिधा आदि लाने के लिये प्रतिदिन वन में जाया करते थे और सायंकाल के समय लौटते थे। प्रतिदिन उनकी अनुपस्थिति में इन्द्र अहल्या के पास आते और उनके लौटने के पहले ही स्वर्गलोक को चले जाया

करते थे। पाप कहीं छिपता ही नहीं, तुरन्त नारदजी को इस बात का पता लग गया और उन्होंने यह वृत्तान्त गौतम को जा सुनाया। गौतम उस समय फल लाने के लिये वन को जा रहे थे, सुनते ही लौट पड़े। उस समय इन्द्र और अहल्या दोनों बैठे वार्तालाप कर रहे थे। उन्हें देखते ही इन्द्र मारे डर के वहाँ से भाग निकले और अहल्या भयभीत होकर थर-थर काँपने लगीं।

ऐसी स्थिति देखकर गौतम को बड़ा क्रोध आया और आँखें लाल कर इन्द्र को शाप देते हुए कहने लगे कि हे इन्द्र! तुमने मेरी साध्वी स्त्री का धर्म बिगाड़ कर परम निन्दनीय कार्य किया है। इस लिये मैं तुम्हें शाप देता हूँ, कि तुम्हारे मुख भर में हजार भग हो जायँ। जिससे संसार में तुम मुँह दिखाने योग्य न रह जाओ। अब से यदि मर्त्यलोक में पूजा लेने को आओगे तो तुम्हारे सिर के सौ टुकड़े हो जायँगे।

इस प्रकार इन्द्र को शाप देकर गौतम अहल्या से बोले कि हे पापे! तूने बड़ा निन्दनीय कार्य किया है। तेरे मुख देखने में भी पाप है। अब तू मानव शरीर में रहने योग्य नहीं है। जा, तू आजही पत्थर हो जा।

गौतम के मुख से इन वचनों के निकलते ही अहल्या शिलामयी हो गयीं। और इन्द्र के मुख में हजार भग बन गये। अपनी ऐसी दुर्दशा देखकर इन्द्र बहुत लज्जित हुए और मेरु पर्वत की कन्दरा में जा छिपे। किसी को यह पता नहीं था कि

इन्द्र कहाँ पर हैं और क्या कर रहे हैं ? इन्द्र के अभाव से स्वर्ग में अराजकता फैल गयी। दैत्यों और दानवों ने मौका पाकर धावा बोल दिया और देवों को सताने लगे। बेचारे देवता दैत्यों से पीड़ित होकर इधर-उधर मारे-मारे फिरने लगे। इन्द्राणी भी व्याकुल हो उठीं और वृहस्पति को बुलाकर इन्द्र के विषय में पूछने लगीं।

वृहस्पति ने चिरकाल तक ध्यान लगाकर ज्ञानदृष्टि से इन्द्र को मेरुपर्वत की कन्दरा में छिपे देखा। तदनन्तर देवगुरु सब देवों को साथ लेकर इन्द्र के पास गये और देवराज से वहाँ निवास करने का कारण पूछने लगे। इन्द्र ने लज्जित होकर सब कथा सुना दी और कातर-स्वर में कहने लगे कि अब इस कलंकित देह से मैं राज्य नहीं करूँगा। मैं संसार को अपना मुख नहीं दिखा सकता।

इन्द्र के ऐसे दीन वचन सुनकर वृहस्पति सब देवों को लेकर गौतम के समीप गये। देवताओं की प्रार्थना से दयालु गौतम ऋषि मान गये और इन्द्र को सहस्राक्ष बना दिया; परन्तु अहल्या उसी दशा में पड़ी रह गयीं। बहुत समय के अनन्तर जब रामावतार हुआ और श्रीरामचन्द्रजी ने महर्षि विश्वामित्र के कहने से उस शिला का स्पर्श किया, तब अहल्या पत्थर से फिर स्त्री हो गयीं।

अपने पूर्वरूप को प्राप्त होकर अहल्या पूर्वकर्मों को स्मरण करती हुईं अपने पतिदेव की शरण गयीं और प्रार्थनापूर्वक उस

पाप का प्रायश्चित्त पूछने लगीं। अहल्या ने कहा कि मैं अपनी शुद्धि के लिए कठिन से कठिन प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार हूँ। आप केवल वह प्रायश्चित्त बताने की कृपा करें।

महर्षि गौतम ने बहुत सोच विचार कर व्यवस्था दी कि तीर्थयात्रा, एक सौ चान्द्रायण व्रत, एक हजार कृच्छ्र चान्द्रायण, दस हजार प्रजापत्य व्रत और पृथ्वी के अड़सठ तीर्थों में स्नान करने से शुद्धि हो सकती है।

अहल्या ने पतिदेव के कथनानुसार प्रायश्चित्त करना आरम्भ कर दिया और चान्द्रायण आदि व्रत करती हुईं तीर्थ यात्रा करने लगीं। अन्त में वे हाटकेश्वर शिव के समीप पहुँची, पर उनके पहुँचते ही वहाँ का मार्ग बन्द हो गया।

अहल्या ने मन में विचार किया कि जब तक हाटकेश्वर के दर्शन न होंगे तब तक मैं समझूंगी कि मुझे अभी पाप से मुक्ति नहीं मिली है। इस लिए यहीं बैठकर पाताल-संस्थित भगवान् हाटकेश्वरके दर्शन पाने के लिए दुष्कर तप करना ही ठीक है।

ऐसा निश्चय कर अहल्या ने उसी स्थान पर अपने नाम से एक शिवलिंग संस्थापित किया और षोडशोपचार से उनका त्रिकाल पूजन करने लगीं। गर्मी के दिनोंमें वे पञ्चाग्नि तापतीं, जाड़े के समय शीतल जल में बैठी रहतीं और वर्षा ऋतु में खुले मैदान में बैठकर समय बिताती थीं।

इस प्रकार घोर तप करते-करते बहुत समय व्यतीत हो गया; पर हाटकेश्वर के दर्शन नहीं हुए। अहल्या के पुत्र शता-

नन्द को इतना समय व्यतीत हो जाने से बड़ा आश्चर्य हुआ और वे माता को खोजते हुए उसी जगह जा पहुँचे। अपनी माता को दारुण तप करते देखकर वे बहुत दुःखित हुए और कहने लगे कि हे माताजी ! आपने सड़सठ शिवलिङ्गों के दर्शन कर लिये हैं, अड़सठवाँ लिङ्ग पाताल में है, उसके दर्शन कोई मनुष्य नहीं कर सकता । इस लिए आपकी पूर्णतया शुद्धि हो गयी, अब आप अपने घर चलें।

परन्तु अहल्या ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और कहने लगीं कि मैंने निश्चय कर लिया है कि जब तक हाटकेश्वर के दर्शन न कर लूँगी तब तक घर न जाऊँगी। हे प्रिय पुत्र! तुम जाकर अपने पिताजी को यहाँ का सब समाचार सुना देना।

अपनी माता का दृढ़ निश्चय देख कर उन्होंने भी उन्हीं के साथ तप करने का निश्चय किया और अपने नाम से एक शिवलिङ्ग संस्थापित कर तपस्या करने लगे। परन्तु चिर काल तक तप करने पर भी भगवान् शंकर प्रसन्न नहीं हुए।

जब गौतम ऋषि ने देखा कि शतानन्द के निकले बहुत दिन व्यतीत हो गए और अभी तक कोई समाचार नहीं मिला, तो वे बड़े चिन्तित हुए और उनको खोजने के लिए चल पड़े। खोजते-खोजते वे उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ शतानन्द अपनी माता के साथ बैठे भगवान् शंकर का ध्यान कर रहे थे। पहिले तो उन दोनों को घोर तपस्या करते देखकर, वे बड़े प्रसन्न हुए; और कहने लगे कि तुम लोग बहुत तप कर चुके, अब घर

चलो। अधिक तप करने की आवश्यकता नहीं है।

बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी जब वे दोनों अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए, तब गौतम मुनि भी वहीं आसन जमा कर तप करने बैठ गए और प्रतिज्ञा की कि अपने तप से मैं इन लोगों को हाटकेश्वर भगवान् के दर्शन करा के मानूँगा।

उन्हों ने एक हजार वर्ष तक घोर तप किया। उस तप के प्रभाव से पृथ्वी को फोड़ कर एक उत्तम शिवलिंग निकल आया। बारह सूर्य के समान उसका तेज था और उसमें सब सुन्दर लक्षण विद्यमान थे। उसी समय शशिशेखर भगवान् शंकर प्रकट हुए और महर्षि से कहने लगे कि मैं तुम्हारे तप से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी तुम्हारे पुत्र और पत्नी की तपस्या से इस लिंग का प्रादुर्भाव हुआ है। अब अहल्या की पूर्ण रूप से शुद्धि हो गयी है। तुम्हें जो वर माँगना हो, माँगो।

गौतमजी ने कहा कि हे महाराज! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो यही वर दीजिए कि भूलोकस्थित इन *हाटकेश्वर के दर्शन करने से पातालस्थित शिव के दर्शनों का पुण्य प्राप्त हो। †अहल्येश्वर, शतानन्देश्वर और गौतमेश्वर के दर्शनों से सांसारिक मनुष्यों के सब पातक दूर हो जायँ।

भगवान् शंकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर कैलास पर्वत को चले गए और गौतम महर्षि बहुत आनन्दित होते हुए

---

* हाटकेश्वर राजगीर (बिहार) में है। † महेसाना जक्शन से २१ मील पूर्व गुजरात में वाढ नगर ग्राम है।

अहल्या तथा शतानन्द के साथ २ अपने आश्रम पर आ पहुँचे। वहाँ सुख तथा शान्ति के साथ जीवन का आनन्द लेने लगे। जो प्राणी इस कथा को सुनता है, वह परस्त्रीगमनजनित पाप से मुक्त हो जाता है। स्कन्दपुराण में लिखा है:—

"इन्द्रस्य स्थापनं मर्त्यै अहल्याख्यानमेव च ।
गौतमेश्वरमाहात्म्यं तथादित्येश्वरस्य च ॥ ६५ ॥
यश्चैतच्छृणुयान्नित्यं श्रद्धया परया युतः ।
स मुच्येत्पातकात् सद्यः परदारसमुद्भवात् ॥६६॥"

(नागरखं० २०८ अ०)

एकतीसवाँ रत्न

(काशीकी एक ब्राह्मण-कन्या)

काशी में हरिश्व नामवाला एक ब्राह्मण रहता था। उसके एक कलावती नाम की कन्या उत्पन्न हुई उसमें शील, सुन्दरता आदि सब गुण थे। वह ज्ञानोद तीर्थ (ज्ञानवापी) के दर्शन के पुण्य से जगत् को शिवमय देखने लगी थी। एक समय एक विद्याधर उसके रूप पर मोहित होकर उसे घर के आँगन से उठा लेगया। रात के समय आकाशमार्ग के मध्य में उसे एक राक्षस मिला। दोनों में घोर युद्ध हुआ। अन्त में दोनों मर गये। कलावती भी विद्याधर को अपना पति मान कर अपनी

देह अग्नि में भस्म कर दी। उस विद्याधर का मलयकेतु नामक राजा के यहाँ पुनर्जन्म हुआ और कलावती कर्णाटक नगर में उत्पन्न हुई। कुछ काल के अनन्तर उसके पिता ने मलयकेतु के पुत्रको विवाहविधि से वह कन्या अर्पण कर दी।

कन्या पूर्वजन्म के वासना वश प्रति दिन प्रेमपूर्वक शिवपूजा करती थी। मोती, माणिक्य इत्यादि के होते हुये भी रुद्राक्ष से उसको बड़ा प्रेम था।

एक समय किसी चित्रकार ने उपहार में मलयकेतु के पुत्र को एक चित्र अर्पण किया। उसने उसे अपनी प्यारी स्त्री को दे दिया। उस चित्र को देखकर कलावती रोमांचित हो गयी। प्राण-प्रिय विश्वनाथ का दर्शन करके वह योगी की नाईं समाधिस्थ हो गयी। कुछ क्षण के अनन्तर उसने नेत्र खोल कर देखा तो काशी की उत्तरवाहिनी गंगा, जिसको कि स्वर्ग के देवता लोग भी चाहते हैं उसे देखा। और मोक्षदायिनी मणिकर्णिका, जहाँ बहुत जन्मों के कर्मसूत्र तोड़ कर प्राणी मुक्त होते हैं वह भी देखा। इस प्रकार चित्र में काशीस्थ अनेक तीर्थों को देखती रही। जब ज्ञानवापी पर दृष्टि पड़ी तो एकाएक उसके रोमांच हो आया, पसीना आने लगा, नेत्र के आँसुओं से अंग गीले हो गये और उसकी सुषुप्ति की सी अवस्था हो गयी। हाथ से चित्रपट गिर गया।

उसकी विलक्षण अवस्था देखकर दासियों ने उनसे हाल जानने के लिये प्रार्थना की तब कलावती ने अपने पूर्वजन्म

का हाल और ज्ञानवापी तीर्थ का माहात्म्य कहा। जिसको सुन कर दासियों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

एक दिन उस पुण्यशिला ने अपने पतिदेव से प्रार्थना की और कहा हे नाथ! ब्रह्मा ने प्रजा उत्पन्न की और उनके हित के लिये चार पुरुषार्थ बनाये, उनसे हीन जन्म जलके बुल्ले की नाँई है। इसलिये हे स्वामी! चलो, हम दोनों काशीपुरी को चलें। इस प्रकार पत्नी के वचन सुन कर उन्होंने पुत्रको राज सौंप दिया और अपने लिये धन लेकर काशी आये। कलावती ने पति की सेवा में शेष आयु को विताया। एक दिन प्रातः काल में नहाकर दोनों दम्पति *ज्ञानवापी में बैठे शिव सम्बन्धि चर्चा कर रहे थे। इतने में किसी जटिल ने आकर उनको विभूति दी और प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हुए कहा कि यहाँ ही एक क्षण में तारक मंत्रके उपदेश से तुम दोनों के ज्ञानका उदय होने वाला है। थोड़ी देरबाद बाजती क्षुद्रघंटिका समेत एक विमान आया और सब लोगों के देखते ही देखते भगवान् चन्द्रभाल ने उनके कानों में ज्ञानोपदेश दिया। तदनन्तर ज्योतीरूप स्वप्रकाश ब्रह्म उसको भासित हुआ और उसी क्षण कलावती समेत मलय केतुको वह अकथनीय ज्योति रूप विमानऊपर उड़ा लेगया।

"उत्तीर्य यच्छ्रुतिपुटे किमपि स्वयमादिशत् ।
अनाख्यं यत्परं ज्योतिरुच्चक्राम च तत्क्षणात् ॥२१॥"
(का० ख० अ० ३४)

* ज्ञानवापी काशीमें एक प्रसिद्ध स्थान है। श्री१०८विश्वनाथजी के निकट।

श्रीगणेशाय नमः ।
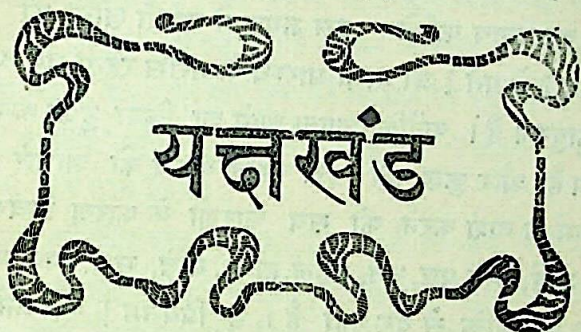
बत्तीसवाँ रत्न

शिव-भक्त हरिकेश यक्ष (दण्डपाणि)

रत्नभद्र नाम से प्रसिद्ध एक धर्मात्मा यक्ष गन्धमादन पर्वत पर रहता था। पूर्णभद्र नाम पुत्र को पाकर वह पूर्ण मनोरथ हुआ। अन्त में अनेक भोगों को भोग कर शिवध्यान-परायण हो अपना नश्वर शरीर त्याग कर शिवलोक पहुँचा (आससाद शिवं शान्तं शान्तसर्वेन्द्रियार्थकम्) पिता के शिवलोक जाने पर पूर्णभद्र सन्तानहीन होने से अपनी भार्या सुवर्णकुण्डला नाम की यक्षिणी से बोला—हे प्रिये! मुझे पुत्र के विना यह राज और महल इत्यादि शून्य मालूम होता है।

कनककुण्डला बोली—हे नाथ ! आप ज्ञानवान् होकर पुत्र के लिए क्यों खेद करते हैं। यदि यही इच्छा हो तो पुत्र मिलने का उपाय करिये। इस जगत् में उद्यमी लोगों को क्या दुर्लभ है ? हे पते ! जो प्राणी प्रारब्ध के भरोसे रहता वह अतिशय कापुरुष है। क्योंकि अपना आगे का किया हुआ कर्म ही प्रारब्ध है, और कुछ नहीं। इस कारण पौरुष को आधार बना कर कर्म के नाश करने को सब कारणों के कारण ईश्वर के शरण जावें, *तो पुत्र, धन, महल, हाथी, घोड़े, सुख, स्वर्ग, मोक्ष, ये सब शिवभक्ति से दूर नहीं है। हे प्रियतम ! सब मनोरथ आठों सिद्धियाँ शिवकी कृपा होने पर सामने खड़ी रहती हैं, इसमें संदेह नहीं है। अन्तर्यामी जगत् के स्वामी भगवान् विष्णुजी जिन शिव की सेवा से चर वो अचर सभी की रक्षा करते हैं। जिन शंकर ने ब्रह्मा को सृष्टि रचने का अधिकार दिया, इन्द्रादि देव जिस शिव की दया से लोकपाल हुए, अपुत्र शिलादने जिन शिव की कृपा से मरणहीन नन्दीश्वर नामक पुत्र को पाया, काल के गाल में फँसे हुए श्वेतकेतु ने जीवन पाया, दधीचि ने संग्राम में शिवभक्ति से विष्णु को

---

* अपत्यं द्रविणं दारा हारा हर्म्यंहया गजाः ॥
सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे शिवभक्तितः ॥३३॥
नारायणोऽपि भगवानन्तरात्मा जगत्पतिः ॥
चराचराणां भविता जातः श्रीकण्ठसेवया ॥६५॥
(का० खं० अ० ४२)

जीता उन शिवजी के प्रसन्न हो जाने पर संसार में क्या दुर्लभ है। जो मनोरथ संसार में अलभ्य भी हैं उनको शिवजी प्रदान करते हैं। हे प्रिय! *जो सबसे श्रेष्ठ पुत्र चाहते हो तो शिव की शरण जावो। स्त्री का वचन सुनकर यक्षराज ने गीतवाद्य से †ओंकारेश्वर का पूजन कर पुत्र की अभिलाषा पूर्ण की। उसका नाम 'हरिकेश' पड़ा। पुत्र उत्पन्न होने की प्रसन्नता से उसने अनेक पुण्य दान किये।

जब हरिकेश आठ वर्ष का हुआ तभी से वह खेल में धूरि (बालू) का शिवलिंग बना कर तृणादि (दूर्वा) से उनका पूजन करता और बालकों को शिव नाम से पुकारता था। रात दिन हे चन्द्रशेखर! हे भूतेश! हे मृत्युञ्जय! हे मृड! हे ईश्वर! यही कहता और मित्रों को प्रेम करता हुआ बार बार यही पुकारता रहता था। उसके कान शिव के नाम सिवाय अन्य किसी को नहीं ग्रहण करते थे। वह शिवमन्दिर को छोड़ कर किसी अन्य जगह नहीं जाता, उसके नेत्र शिवके सिवाय और कुछ देखने की इच्छा नहीं रखते थे। उसकी जीभ शिव नाम के अमृत का स्वाद लेने में चतुर थी। उसके हाथ

---

*तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शङ्करं शरण व्रज ॥
यदीच्छसि प्रियं पुत्रं प्रियं सर्वजनीनकम् ॥

† ॐकारेश्वर का मन्दिर पावनपुरी काशी में मत्स्योदरी से उत्तर कोयला बाजार में है।

शिवसेवा करने में दृढ़ थे; उसका मन शिवध्यानपरायण था। उसने अपनी बुद्धि शिव को समर्पण करदी थी, जल आदि भी शिवार्पण किये बिना नहीं ग्रहण करता और स्वप्न में भी शिव ही को देखा करता था।

हरिकेश की यह दशा देख कर उसके पिता ने उसे गृह-कार्य में लगाने की अनेक चेष्टायें कीं; किन्तु उस पर कुछ भी असर न हुआ। अन्त में हरिकेश घर से निकल गया। कुछ दूर जाकर उसे भ्रम होगया और वह मन ही मन कहने लगा—हे शंकर! कहाँ जाऊँ, कहाँ रहने से मेरा कल्याण होगा?

उसने अपने मन में विचारा कि जिनका कहीं ठिकाना नहीं है, उनका आधार काशीपुरी है। जो रात दिन विपत्तियों से दबे हैं, उनका काशीपुरी ही आधार है। इस प्रकार निश्चय कर वह काशीपुरी को गया। जिस अविमुक्त क्षेत्र में पांचभौतिक देह त्याग कर प्राणी शिव की प्रसन्नता से फिर देह का सम्बन्ध नहीं रखता। उस आनन्दवन में जाकर तप करने लगा।

कुछ काल के अनन्तर भगवान् शंकर ने पार्वती को अपना विहारवन दिखाया। वह अनेक सुगन्धयुक्त पल्लवों से शोभित था। शिव बोले—हे देवी! जैसे तुम मुझको बहुत प्यारी हो, वैसे ही यह आनन्दवन भी मुझे परम प्यारा है। हे देवि! मेरे अनुग्रह से इस आनन्दवन में मरे हुये जनों को जन्म-मरण का बन्धन नहीं होता यानी वह फिर संसार में जन्म नहीं लेता। पुण्यात्मा के कर्म्मबीज विश्वनाथजी की प्रज्वलित

अग्नि में जल जाते हैं, उसी से फिर वे गर्भाशय में नहीं आते। काशीवासी लोगों के देहान्त समय में मैं ही तारक ब्रह्म-ज्ञान देता हूँ। जिससे वे उसी क्षण मुक्त होजाते हैं।

कलियुग में विश्वनाथ देव, काशीपुरी, भागीरथी गंगा, सत्पात्र का दान विशेष फलदायक होता है। हे देवि! काशी-वासी सदा मेरे में बसते हैं। इससे मैं उनको अन्त में संसार से छुड़ाता हूँ। यह मेरी प्रतिज्ञा है। इस तरह वार्तालाप करते २ शिवजी एक जगह गये, जहाँ हरिकेश समाधि लगाये बैठा था। उसको देखकर देवीजी ने कहा कि हे ईश! इस समाधिस्थ भक्त को वर देकर इसका मनोरथ पूरा करो। तब देवी के साथ नन्दीश्वर का हाथ पकड़े बैल से उतर कर दयार्द्र मनवाले महा-देवजा उसके पास गये और उन्होंने समाधि में स्थित उस हरि-केश को हाथ से छुआ। तदनन्तर उस यक्ष ने आँखें खोलकर अपने आगे प्रत्यक्ष त्रिनयन को निहारा, शिवजी उगते हुये हजारों सूर्य्यों के समान प्रकाशित थे। गद्गद स्वर से यक्ष ने कहा कि हे ईश, हे शम्भो, हे पार्वतीपते, हे शंकर! आपकी जय हो। इस प्रकार प्रिय वचन सुनकर आशुतोष शिवजी बोले--हे यक्ष! तुम अभी ही मेरे वर से मेरे क्षेत्र के दण्डनायक होजाओ। आज से तुम दुष्टों के दण्डदायक और पुण्यवानों के सहायक बनो। *और दण्डपाणि

---

* ढुंढीराज से उत्तर ओर जो गली गयी है उसी में दण्डपाणीश्वरजी का मंदिर है। दोनों तरफ संभ्रम, उद्भ्रम, ये दो गण खड़े हैं और बीच में स्वयं दण्डपाणि भगवान् विराजमान हैं।

नाम से विख्यात होकर सब उद्भट गणों को नियंत्रण करो। मनुष्यों में सत्य अर्थ नामवाले सम्भ्रम और उद्भ्रम ये दोनों गण सदा तुम्हारे साथ रहेंगे। तुम काशीवासी जनों के सदा अन्नदाता प्राणदाता ज्ञानदाता होवो और मेरे मुख से निकले तारकमन्त्र के उपदेश से मोक्षदाता होकर नियमित रूप से काशी में निवास करो।

"त्वमन्नदः काशिनिवासिनां सदा
त्वं प्राणदो ज्ञानद एक एव हि।
त्वं मोक्षदो मन्मुखसूपदेशत-
स्त्वं निश्चलं सद्वसतिं विधास्यसि॥ ५५॥
(का० खं० अ० ३२)

तैंतीसवाँ रत्न

पुष्पदन्त

पुष्पदन्त नामक एक परम शिवभक्त गन्धर्वराज थे। जिन्होंने भयंकर तप करके भगवान् शिवजी को संतुष्ट किया* और प्रभास

---

* तेन तप्त्वा तपो घोरं तत्र लिंगं प्रतिष्ठितम्॥
तद्दृष्ट्वा मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्॥ २॥
'प्रभास' जूनागढ राज्य में है। (प्रभा० खं० अ० १७४)

क्षेत्र में 'पुष्पदन्तेश्वर' नामक लिंग स्थापित किया। उस शिवलिंग का दर्शन करके प्राणी जन्ममरण के बन्धन से छूट जाता है। पुष्पदन्त शिव की आराधना के लिये सुन्दर और सुगन्धित पुष्प लाने को रोज एक राजा के उपवन में आकाश मार्ग से उड़ कर जाते और वहाँ से प्रातःकाल ही सर्वोत्तम पुष्प चुन लाते थे। उपवन के रक्षक पुष्प ले जानेवाले का बहुत पता लगाते पर किसी प्रकार पता न लगता था। राजा जब पूजा करने बैठता और अर्चना के लिये पुष्प न पाता तो उसे बहुत क्रोध आता और मालियों को बहुत दण्ड देता था। बेचारे माली बहुत पता लगाने पर भी पता न लगा सके तो राजा के सामने जाकर कहने लगे कि हे शरणागतपालक महाराज! हम लोग रात दिन उपवन में पहरा देते हैं; पर किसी प्रकार चोर का पता नहीं लगता। आप अन्नदाता हैं, जो चाहें सो करें। आप हम लोगों को चाहे मारें, चाहे पीटें या शूली पर चढ़ा दें।

मालियों के ऐसे आर्त वचन सुन कर राजा बहुत चिन्तित हुआ और उसने अपने सचिवों से सलाह किया। सचिवों ने कहा कि हे महाराज! फूल ले जानेवाला कोई अपूर्व शक्तिशाली पुरुष है। ज्ञात होता है कि उसमें अन्तर्धान होने की शक्ति है। इसी कारण सब रक्षकों के सामने वह फूलों को तोड़ ले जाता है और कोई उसे पकड़ नहीं सकता। इसका एकमात्र यही उपाय है कि उपवन की चारों ओर शिवनिर्माल्य फैला

दिया जाय। जब वह पुरुष शिवनिर्माल्य लाँघ कर बगीचे में घुसेगा उसी समय उसकी सब शक्ति नष्ट हो जायगी और रक्षकों के दृष्टिगोचर हो जायगा।

राजा ने मन्त्रियों की सलाह के अनुसार बगीचे के चारों ओर शिवनिर्माल्य फैलवा दिया। जब पुष्पदन्त उस उपवन में प्रवेश करने लगे। उसी समय शिवनिर्माल्य-लंघन से उनकी अन्तर्धानिका शक्ति नष्ट हो गयी और रक्षकों ने उन्हें पकड़ लिया। राजा इतने दिनों से कुपित तो था ही, बिना कुछ पूछे-ताछे इन्हें तुरन्त जेल में बन्द कर देने की आज्ञा दे दी। राजा की आज्ञा के अनुसार वे तुरन्त जेल में बन्द कर दिये गये।

कारागार में बन्द हो जाने पर गन्धर्वराज अपने मन में अपनी शक्ति नष्ट होने का कारण सोचने लगे। बहुत ध्यान लगा कर विचार करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि शिव-निर्माल्य के लाँघने का अपराध हुआ है। इसी कारण उनकी अन्तर्धानिका शक्ति नष्ट हो गयी है। सर्वश्रेष्ठ देव शिव के अपराध का मार्जन शिवोपासना से ही हो सकता है। ऐसा निश्चय कर वे *भगवान् शिव की स्तुति करने लगे। उन्होंने ३६ श्लोकों द्वारा भक्तिपूर्ण हृदय से भगवान् आशुतोष की स्तुति की। इस महिम्नस्तोत्र से भगवान् शङ्कर परम सन्तुष्ट होकर वर

* पावनपुरी काशी में पुष्पदन्तेश्वर शिव बंगाली टोला में चौसट्टी देवी के मन्दिर से उत्तर ओर हैं।

देने के लिये उपस्थित हुये । उनके वर से पुष्पदन्त का पुष्पापहारजनित पाप दूर हो गया और वे कारागार से मुक्त हो गये । इस पुष्पदन्त-रचित महिम्नस्तोत्र के प्रतिदिन पाठ करने से दरिद्र मनुष्य भी सम्पत्ति-सम्पन्न होता, आयु की वृद्धि होती, सन्तान की प्राप्ति होती और संसार में उज्ज्वल यश प्राप्त होता है । इसका माहात्म्य इस प्रकार कहा गया है:-

"अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान् यः ।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथात्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमाँश्च ॥ ३४ ॥

॥ प्रभाती ॥

जो शिव नाम लेत अलसैहै ॥ टेक ॥ तो फिर जन्म जन्म के पातक तेरे कौन छूटै हैं । है शुभ अशुभ करम को मालिक तासों तूं का कैहै ॥ सुन्दर वयस ऐसमें खोई अन्त आप पछितैहै । देवीसहाय भजन बिनु कीन्हें रसना रस नहिं पैहै ॥ ५६ ॥

॥ प्रभाती ॥

मैं शिव सदा यहै बर पाऊँ ॥टेक॥ बसों समीप सदा सुरसरिके अन्त कहूँ नहिं जाऊँ। साचो करों सनेह शम्भु सों बिमल २ गुण गाऊँ ॥ शिवपद पद्मपराग पियन हित चित चंचल चपटाऊँ। देविसहाय स्वांस सितार सो उमा महेश रिझाऊँ ॥ १ ॥

॥ प्रभाती ॥

अब प्रभु करहु कृपा यहि भाँती ॥ जाते मिटै मोह ममता मद शिव सुमिरों दिनराती। विश्वनाथ पद पूजन कीन्हें उमगि उठे मम छाती ॥ आनन्द बन बीथिन में डोलों भूलि जाहुँ निज जाती। देवीसहाय उमा शंकरको लिखत अरज की पाँती ॥ २ ॥

॥ भैरवी ॥

जो तुम दीनदयाल कहावो ॥ टेक ॥ तौ मम हृदय बिमल करिये प्रभु भक्तिभाव दरसावो। श्रीगौरी हिय रंजन शंकर मन मेरे बसि जावो ॥ वेगि हरो दारुण दुख दारिद अब जनि देर लगावो। देवीसहाय दास अपने को निज पुर वेगि बुलावो ॥ ३ ॥

चौंतीसवाँ रत्न

दानवीर राजा बलि

प्राचीन काल में देवताओं और ब्राह्मणों की निन्दा करने वाला एक बड़ा पातकी कितव था। वह प्रतिदिन जुआ खेलता और उससे जो कुछ धन मिलता उसे परस्त्रियों को प्रसन्न करने में व्यय कर दिया करता था। संसार में जितने भी बुरे व्यसन हैं, वे सब उसमें वर्तमान थे।

एक दिन उसने अपने साथियों को धोखा देकर जुए में बहुत सा धन जीता। उससे उसने सुन्दर गजरे, बहुमूल्य इत्र और सुगन्धित चन्दन खरीदे। इन सबको हाथों में लिये

दौड़ता हुआ वेश्या के घर को चला । जाते-जाते रास्ते में ठोकर लग गयी और वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। गिरते ही उसे मूर्छा आगयी और कुछ देर तक वह उसी दशा में पड़ा रहा। उसके चन्दन, इत्र और गजरे भूमि पर गिर कर मिट्टी में मिल गये। इन सब वस्तुओं में मिट्टी लग गयी जिससे वे वेश्या के काम के नहीं रह गये। इस लिये उसने वह सब सुगंधित द्रव्य शिवजी को चढ़ा दिये।

समय आने पर जब उसकी मृत्यु हुई तो यमदूत उसे यमलोक ले गये। वहाँ यमराज़ कहने लगे कि रे दुष्ट ! तूने बड़े बड़े पातक किये हैं। इस लिये तुझे नरक की कठिन यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। उसने हाथ जोड़ कर कहा कि हे भगवन्! मैंने तो कोई भी पाप नहीं किया है, आप चाहें तो चित्रगुप्तजी से अच्छी तरह जाँच करा लीजिये।

यमराज के संकेत से चित्रगुप्त ने खाता खोल कर देखा और कहा कि तुमने पाप तो असंख्य किये हैं और उन सबका फल भोगना ही पड़ेगा; पर एक बार तुमने शिवजी को चन्दन आदि चढ़ाये हैं। इस लिये तुम्हें आरम्भ में तीन घण्टे के लिए इन्द्रपद मिलेगा।

उसी समय ऐरावत हाथी आया और उसे अपनी पीठ पर चढ़ाकर इन्द्रलोक ले गया। बृहस्पति ने इन्द्र से कहा कि हे महाराज ! एक कितव ने बिना श्रद्धा के शिवजी को गंध पुष्प आदि चढ़ाये थे, उसके पुण्य से उसे तीन घण्टे के लिये

इन्द्रपद मिला है। अतएव आपको उतने समय के लिये अपना पद छोड़ देना चाहिये। देखिये, शिवजी की विना भक्ति की आराधना से एक महापातकी कितव को कितना भारी फल मिला। जो लोग श्रद्धा और भक्ति के साथ शिवजी की आराधना करते हैं, उन्हें सायुज्यमुक्ति मिलती है। बड़े बड़े देवता भी उनके किङ्कर (दास) हो जाते हैं। शान्त चित्त से शिवपूजन करनेवाले मनुष्यों को जो सुख प्राप्त होता है वह ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों को भी नहीं मिल सकता। विषयलोलुप जीव इनकी आराधना का माहात्म्य नहीं जानते।

बृहस्पति के वचन सुन कर इन्द्र तो कहीं दूसरी जगह चले गये और कितव को इन्द्रासन मिला। उसी समय इन्द्राणी लायी गयीं; पर शिवजी की पूजा के प्रभाव से कितव के हृदय में सद्बुद्धि उत्पन्न हुई और उसने उन्हें प्रणाम कर कहा कि आप मेरी माता हैं, आप अपने महलों को जाइये। तदनन्तर उसने अगस्त्यमुनि को ऐरावत हाथी, विश्वामित्र को उच्चैःश्रवा घोड़ा, वसिष्ठ को कामधेनु गौ, गालव को चिन्तामणि और कौण्डिन्य को कल्पवृक्ष दान दे दिया। शिवजी को प्रसन्न करने के लिये उसने ऋषियों को और भी बहुत से दान दिये। इन सब दान पुण्यों में तीन घण्टे समाप्त हो गये और वह फिर यमलोक को पहुँचाया गया।

इन्द्र ने अपने यहाँ के सब रत्नों को गया जान कर यमराज से शिकायत की। यमराज ने कितव से

कहा कि दान का पुण्य भूलोक में ही होता है। स्वर्ग में दान नहीं करना चाहिए। इस लिये हे मूढ़ ! तू दण्डनीय है, तुझे नरक की दारुण यातना भोगनी पड़ेगी ।

यमराज की बातें सुन कर चित्रगुप्त ने कहा कि हे महाराज ! इसने शिवजी के नाम पर ऐसे उत्तम ऋषियों को इतनी बहुमूल्य वस्तुयें दीं हैं, तब इसे नरक की यातना क्यों भोगनी पड़ेगी ? शिव के नाम पर स्वर्गलोक मर्त्यलोक कहीं भी कुछ दिया जाय उसका अक्षय फल मिलता है* । इस कितव के जितने पाप थे, वे सब शम्भु के प्रसाद से भस्म हो कर सुकृत के रूपमें परिणत हो गये । यह बात यमराज की समझ में आ गयी और उन्होंने उस कितव से क्षमा माँगी ।

उसी पुण्य के प्रभाव से उस कितव का दूसरा जन्म परम भागवत प्रह्लाद के पुत्र महादानवीर विरोचन के घर में सुरुचि के उदर से हुआ। विरोचन इतने बड़े दानी थे कि वृद्धब्राह्मणरूपधारी इन्द्र के माँगने पर उन्होंने अपना सिर तक अपने हाथों से काट कर दे दिया था। विरोचन का यह दान तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। आज तक कवि लोग उनके इस अपूर्व दान की प्रशंसा करते हैं।

उन्हीं महापुरुष विरोचन के घर में इस कितव का जन्म

---

* शिवमुद्दिश्य यद्दत्तं स्वर्गे मर्त्ये च यैर्नरैः ।
तत्सर्वं त्वक्षयं विद्यान्निदिच्छद्रं कर्म चोच्यते ॥ १०९ ॥
(के० खं० १२ अ०)

हुआ और इसका नाम रक्खा गया वलि। वलि ने जब अपने पिता की मृत्यु का वृत्तान्त सुना तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने स्वर्गपर धावा बोल दिया और इन्द्रादि देवों को भगा कर स्वयं स्वर्ग का भोग करने लगे। पूर्व-जन्मार्जित शिवपूजन के प्रभाव से इस जन्म में भी दान की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति थी। दान में वे अपना सर्वस्व देने के लिए भी सर्वदा तैयार रहते थे।

देवों का दुःख देखकर भगवान् विष्णु ने वामन का रूप धारण कर वलि से भिक्षा माँगी और वलि ने त्रैलोक्य का राज्य और अपना आधा शरीर दान में दे डाला। आज तक विद्वान् लोग उस दान का कीर्तन कर रहे हैं। जब कभी दानवीरों की गणना होने लगती है तो सब से पहिला नाम राजा बलि का आता है।

सोचिये तो मिट्टी में मिले हुए चन्दन आदि के चढ़ाने से एक महापातकी और जुआड़ी जगत्प्रसिद्ध राजा बलि हो गया। जो लोग पूर्ण भक्ति और श्रद्धा के साथ गन्ध, पुष्प, फल अदि से महेश्वर की पूजा करते हैं वे तो साक्षात् शिव के समीप पहुँच जाते हैं। शिव से बढ़ कर पूजनीय देवता संसार में दूसरे हैं ही नहीं। लूले, लँगड़े, अन्धे, बहिरे, जाति-हीन, चाण्डाल, श्वपच, अन्त्यज आदि में से कोई भी हो, यदि वह शिव की भक्ति करे तो अवश्य परम गति को प्राप्त हो सकता है। परमार्थ के जाननेवाले विद्वान् इसी लिये

सदा महेश्वर का चिन्तन किया करते हैं। शिव की आराधना के विना जितना काम किया जाता वह सब अशुभ होता है। इस लिये सदाशिव की सदा पूजा करनी चाहिये। मुमुक्षु जनों को लिंगरूपी महादेव की आराधना करनी चाहिये। क्योंकि उनसे वढ़ कर भुक्ति और मुक्ति देनेवाले और कोई भी देवता नहीं हैं। स्कन्दपुराण में लिखा है:—

"तस्मात् सदाशिवः पूज्यः सर्वैरेव मनीषिभिः ।
पूजनीयो हि सम्पूज्यो ह्यर्चनीयः सदाशिवः ॥६८॥
लिंगरूपो महादेवो ह्यर्चनीयो मुमुक्षुभिः ।
शिवात्परतरो नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रदायकः ॥८२॥"

(केदारखण्ड १६ अ०)

पैंतीसवाँ रत्न

शिवभक्त वाणासुर

वाणासुर राक्षसराज बलि का सबसे वड़ा वेटा था। यह बलवान्, बुद्धिमान्, सत्यवादी तथा दान देनेवालों में अग्रणी था। परम शिवभक्त वाणासुर * शोणितपुर में निवास करता

* हिमालय पहाड़ के ऊपर त्रिशूल की कोठरी है, वहाँ से शोणितपुर

था । भगवान् शंकर की कृपा से वह त्रैलोक्य-विजयी हुआ ।

बलि के वंश में यह बड़ा प्रतापी असुर था । इसने दस हजार वर्षों तक कठोर तप किया था । एक बार इसके तप से ब्रह्माजी प्रसन्न हुए और इसे तीन नगर दिये। उनमें से एक सोने का, दूसरा चाँदी का और तीसरा लोहे का था। वे सब नगर एक ही में मिले से मालूम होते थे। इसलिए उनका नाम 'त्रिपुर' पड़ गया । वे आकाश में उड़ा करते और बाणासुर की इच्छा पर चलते थे । उनका भेदन करना असम्भव था । वे कभी दिखाई देते और कभी लुप्त हो जाया करते थे । जहाँ वे नगर गिरते वहाँ का स्थान चौपट हो जाता था और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी जीव दब कर मर जाते थे। बाणासुर जिसकी सुन्दर स्त्री, उत्तम रत्न आदि वस्तुओं को पाता, उठा ले जाता था । एक बार देवों को स्वर्ग से भगाकर उसने वहाँ अपना साम्राज्य स्थापित किया । संसार भर उसके अत्याचारों से पीड़ित था । देवता लोग उसे न तो अस्त्रों से मार सकते थे, न शस्त्रों से ही । क्योंकि उसकी शक्ति अपरिमित थी ।

एक बार सब देवता मिल कर भगवान् शंकर के पास गये और विनयपूर्वक स्तुति करने लगे । शिवजी ने उनके आने का कारण पूछा । उन्होंने बाणासुर द्वारा दिये गये दुःख का समाचार सुना कर कहा—"हे महाराज! आपके अतिरिक्त हम लोगों की

की पगडण्डी गई है । वहाँ बाणासुर के गढ़ का निशान है और बाणासुर, अनिरुद्ध तथा पञ्चमुखी महादेव जी की मूर्त्ति भी है ।

रक्षा करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। हे भगवन्! कोई ऐसा उपाय कीजिये—जिससे सभी देवता और तपोधन ऋषि सुख से जीवन बिता सकें।"

शिवजी ने इन देवताओं को समझा-बुझा कर अपने अपने स्थान पर भेज दिया और नारद का स्मरण किया। स्मरण करते ही नारदजी आ पहुँचे और स्मरण करने का कारण पूछने लगे। महादेवजी ने कहा:—"हे मुने! त्रिपुर की स्त्रियाँ साध्वी और तेजस्विनी हैं। उनके तेज से त्रिपुर का भेदन करना असम्भव है। जब तक उनके उस शुद्ध भाव में परिवर्तन न होगा, तब तक विजय प्राप्त करना कठिन है। इसलिये हे नारदजी! आप वहाँ जाइये और उनके पातिव्रत भाव में परिवर्तन कीजिये।"

नारदजी शिवजी को नमस्कार कर त्रिपुर की ओर चल दिये। वहाँ जाकर उन्होंने उन स्त्रियों को अनेक प्रकार के व्रत तथा पूजन के विधान बताये। इसी तरह पति को छोड़ कर दूसरे दूसरे देवताओं की उपासना करने से उनके सतीत्व में बहुत कुछ कमी हो गयी। जब नारदजी वहाँ से चलने लगे तब अपने सौन्दर्य तथा तेज से उनका मन हर ले गये। उनके जाते ही उन स्त्रियों की कान्ति नष्ट हो गयी, वे एक दम प्रभाविहीन हो गयीं। अब क्या था, त्रिपुर का भी महत्त्व जाता रहा।

नारदजी के मुख से सब वृत्तान्त सुनकर, भगवान् रुद्रने त्रिपुर के दाह का निश्चय करके अपने धनुष की टङ्कोर की।

जिससे तीनों लोक हिल गये। क्रोध से आँखें लाल कर उन्होंने एक बाण छोड़ा। बाण छोड़ते ही त्रिपुर में आग लग गयी और वहाँ के बड़े बड़े पर्वत, वृक्ष, गृह आदि धड़ाधड़ पृथ्वी पर गिरने लगे। सुन्दर उद्यान जलकर भस्म हो गये। सब जगह हाहाकार मच गया। वहाँ की स्त्रियाँ और पुरुष चिल्लाने लगे।

प्रचण्ड अग्नि से बाणासुर का घर भी जलने लगा। उस समय उसे अपने किये हुए पातकों पर पश्चात्ताप हुआ। वह रो-रो कर कहने लगाः—"हा! मुझ पापीने तीनों लोकों का सत्यानाश कर डाला। मैंने असंख्य गायों और ब्राह्मणों की हत्या की। मठों और मन्दिरों को तोड़-फोड़कर मिट्टी में मिला दिया। ऋषियों के आश्रम उजाड़ डाले। इन सब महापातकों का फल मेरे सिवाय और कौन भोगेगा? इस समय माता-पिता, बन्धु-बान्धव, पुत्र-कलत्र कोई भी सहायक नहीं दीखता। भक्तजनों के कष्ट हरण करनेवाले श्रीशंकर भगवान् ही अब हमारी रक्षा कर सकते हैं, दूसरा नहीं। अतः उन्हीं की शरण में जाना चाहिये।" ऐसा विचार बाणासुर ने अपने सिर पर शिवलिंग रख लिया और अपने घर से लड़खड़ाता हुआ बाहर निकल कर और गद्गद वाणी से भगवान् महेश्वर की स्तुति करने लगा—

"शिव-शङ्कर! सर्वहराय नमो भवभीति-भयार्ति-हराय नमः।
कुसुमायुध-देह-विनाशकर! जन-मुक्ति-प्रदाय शिवाय नमः ॥१॥

त्वं विष्णुस्त्वं जगन्नाथो ब्रह्मरूपः सनातनः ।
इन्द्रस्त्वं देवदेवेश सुरनाथ ! नमोऽस्तु ते ॥ ९ ॥
त्वं क्षितिर्वरुणश्चैव पवनस्त्वं हुताशनः ।
त्वं दीक्षा यजमानश्च ह्याकाशं सोम एव च ॥ १० ॥
त्वं सूर्यस्त्वं तु वित्तेशो यमस्त्वं गुरुरेव च ।
त्वया व्याप्तं जगत्सर्वं त्रैलोक्यं भास्वता यथा ॥ ११ ॥"

(इत्यादि)

इस प्रकार भक्तिपूर्वक स्तुति करते हुए बाणासुर ने शिवजी से प्रार्थना की कि हे दयानिधे ! यदि आप हमें अपने कोपानल में जलाना चाहते हैं तो जलाइये; किन्तु इस शिवलिंग की अवश्य रक्षा कीजिये । हे भगवन् ! इस लिङ्ग की मैंने बड़ी आराधना और पूजा की है । यह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है । हे महेश्वर ! यदि आप मेरा वध ही करना चाहते हैं तो इतना वर अवश्य दीजिये कि प्रत्येक जन्म में मुझे आपकी भक्ति प्राप्त हो । मुझे चाहे पशु की योनि मिले, चाहे पक्षी होना पड़े, चाहे पतङ्गों का सहवास करना हो, परन्तु आप में मेरी अचल भक्ति बनी रहे ।

बाणासुर की स्तुति सुनकर शिवजी बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—"हे दानवेन्द्र ! तुम डरो मत । अब तुम्हें किसी का भय नहीं है । तुम्हारी इच्छा हो तो तुम मेरे लोक में रहो अथवा अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र तथा बन्धुओं के साथ सांसारिक सुखों का उपभोग करो ।"

ऐसा वर देकर महादेवजी ने उस अग्नि को रोक लिया। तीनों पुरों में से एक पुर बच गया था। अन्य दो में से एक भस्म होकर श्रीशैल पर गिरा दूसरा अमरकण्टक पर्वत पर क्षार-क्षार होकर गिर गया। वृषभारूढ़ साक्षात् शिवजी पार्वती को साथ लेकर वहाँ पर निवास करने लगे। इस कारण मनसे भी * अमरकण्टक के नाम का स्मरण करने पर चान्द्रायण व्रत से भी अधिक पुण्य होता है। इस पर्वत पर स्थित शंकर भगवान् के दर्शन करनेवाले भक्तजन शान्त-सूक्ष्म-अतीन्द्रिय-ज्योति में लय हो जाते हैं। स्कन्दपुराण में लिखा भी है:— (स्क० पु० रेवाखण्ड २८ अ०)

"मनसापि स्मरेद्यस्तु भक्त्या ह्यमरकण्टकम् ।
चान्द्रायणाधिकं पुण्यं स लभेन्नात्र संशयः ॥११२॥
परं सदाशिवं शान्तं सूक्ष्मं ज्योतिरतीन्द्रियम् ।
तस्मिन्याति लयं धीरो विधिना नात्र संशयः ॥११३॥"

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः ।
न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्य ह्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥१३॥

---

* अमर कंटक C. P. में विलासपुर से कटनी को जानेवाली लाइन में पींडरा रोड स्टेशन से कुछ ही मील की दूरी पर है।

छत्तीसवाँ रत्न

राक्षसेन्द्र रावण

राक्षसों में श्रेष्ठ रावण ने जब कैलास पर्वत पर भक्तिपूर्वक शिवजी की आराधना की, तब कुछ काल तक आराधना करने पर शिवजी को प्रसन्न करने के लिये सिद्धि के स्थान हिमालय पर्वत के दक्षिण वृक्षखंडों में बैठकर तप किया। वहाँ वह भूमि में एक गढ़ा खोद, उसमें अग्नि स्थापन कर, उसके समीप शिवलिंग स्थापित कर ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तापता, वर्षा में मैदान में रहता और शीतकाल में जल में बैठा रहता था। इस प्रकार अनेक कष्ट सहने पर भी जब शिवजी प्रसन्न न हुए तो उस रावण ने अपना सिर काट २ कर, बलिदानपूर्वक शिवजी का पूजन करना प्रारम्भ किया। रावण ने क्रमशः जब नौ सिर काट डाले, तब एक सिर शेष रहने पर शिवजी प्रसन्न होकर वहाँ प्रकट हुए। तदनन्तर उन्होंने उसके सिरों को पहले के समान करके उसको वर प्रदान किया।

रावण ने शिवजी की प्रसन्नता पाकर हाथ जोड़ा और नम्र होकर प्रार्थना की—हे देव! आप प्रसन्न होकर आज्ञा दीजिये कि मैं आपके शिवलिंग को लंकापुरी में ले जाऊँ। मेरी इच्छा पूर्ण करो, मैं आपकी शरण में हूँ।

भगवान् शिवजी बोले—हे रावण ! इस श्रेष्ठ ज्योतिर्लिंग को अपने घर ले जाओ। लेकिन रास्ते में कहीं रखना नहीं। यदि तुम कहीं भूमि पर इस लिंग को रखोगे तो यह वहीं स्थिर रह जायगा। इस प्रकार भगवान् की आज्ञानुसार रावण ज्योतिर्लिंग लेकर घर चला। मार्ग में शिवजी की माया से रावण को लघुशंका की इच्छा हुई और वह अपने मूत्र के वेग को न रोक सका। उसने वहाँ एक गोपको देखा। उसे बुलाकर ज्योतिर्लिंग दे दिया और आप लघुशंका करने लगा। जब एक मुहूर्त बीतने पर भी रावण न आया और वह गोप शिवलिंग के भार से दबने लगा, तब उसने उसे पृथ्वी में रख दिया। इससे वह ज्योतिर्लिंग वहाँ ही वज्र के समान स्थिर हो गया। यह दिव्य लिंग दर्शन करने से सब पापों को दूर करनेवाला तथा सम्पूर्ण कामनाओं को शीघ्र देनेवाला *'वैद्यनाथेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। मुक्ति के देनेवाले उस लिंग को वहाँ इस प्रकार स्थिर जानकर रावण लंकापुरी लौट गया।

---

* यह वैद्यनाथ ज्योतिर्लिंग वैद्यनाथ धाम नाम से विख्यात E. I. रेलवे में जसीडीह जंक्शन से ३ मील पर है। इनके अतिरिक्त एक परणी वैद्यनाथ हैं। हैदराबाद राज्य में पैठन से ३० पूर्व गोदावरी तट स्थित गंगाखेड़ा नाम की एक बस्ती है। यहाँ से १२ मील पर घुश्मेश्वर महादेव हैं और वहाँ से ८० मील पर परणी वैद्यनाथ हैं। दक्षिणी लोग इन्हीं को वैद्यनाथ कहते हैं।

उस समय ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता वहाँ आये। उन्होंने विशेष प्रीति से उनकी पूजा की और शिवजी का दर्शन, प्रतिष्ठा तथा स्तुति कर पुनः स्वर्ग को चले गये।

"प्रत्यक्षं तं तदा दृष्ट्वा प्रतिष्ठाप्य च ते सुराः।
वैद्यनाथेति संप्रोच्य नत्वा नत्वा दिवं ययुः ॥२५॥"
(शि० पु०)

सैंतीसवाँ रत्न

शिव-भक्त विद्युत्प्रभ

विद्युत्प्रभ नामक एक दानव परम शिव-भक्त हो गया है। उसने भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिये अनन्य भाव से तप करना आरम्भ किया। वह कभी निराहार, कभी फलाहार और कभी केवल वायु पीकर व्रतानुष्ठान करने लगा। इस प्रकार संयम नियम से भगवत् चरण का ध्यान करता हुआ वह अपनी मनोऽर्थ-सिद्धि की प्रतीक्षा करता रहा। एक बार करोड़ों सूर्य्य के समान तेजस्वी, कोटि कन्दर्प तुल्य सुन्दर, सिर पर गंगा, भाल में चन्द्रमा, कण्ठ में विष धारण किये, समस्त अंगों में भस्म रमाये, डमरू-त्रिशूल-धारी, नाग-यज्ञोपवीती, रुद्र भगवान् ने दर्शन दिया। विद्युत्प्रभ ने भगवान्

के दर्शन से कृतार्थ होकर वरदान माँगा । भगवान् शिव ने कहा कि हे दानवेन्द्र ! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। इसलिये तुम मेरी कृपा से तीनों लोकों के राजा होओ और एक लाख वर्ष तक राज करते हुये मेरी भक्ति में परायण रहो । तुम्हारे एक लाख पुत्र हों। ऐसा कह कर भगवान् शंकर वहीं पर अन्तर्धान हो गये।

"ममैवानुचरो नित्यं भवितासीति चाब्रवीत् ॥
तथा पुत्रसहस्राणामयुतं च ददौ प्रभुः ॥ ८३ ॥"

(महा० अनु० प० १४ अ०)

कजली ॥

शिव शिव सुमिरन कर मन मेरे तेरो भव बन्धन छुटिजाय ।
लख चौरासी फेरा करिके पायो नरतन आय ॥
भजो चरण शिव साम्ब उमाके ममता मोह विहाय ।
जाको ध्यान धरत सुरनर मुनि ब्रह्मादिक सब आय ।
याही ते मैं कहत टेरिके सब सौं विनय सुनाय ।
देवीसहाय पाय नर तन यह भजन करो मन लाय ॥३७॥

कजली ॥

इतनी अरज है हमारी मन में जपत रहों शिव नाम ॥टेक॥
धन परिवार देखि मत भूलो ये नहिं ऐहैं काम ॥
शिव शिव नाम लियेसे प्यारे खरच होत नहिं दाम ॥इतनी०
सुनत सुयश गौरीपत को जो तू करताहि परणाम ॥
देवीसहाय भजत शिवको जे तिनको मैंहुं गुलाम ॥इतनी०॥

॥ होली ॥

गिरिजापति मो मन भायो ॥ द्वादश दल को कमल हृदय में तहँ निज रूप दिखायो । असरन–सरन वेद जेहि गावैं, भक्ति प्रेमवस आयो ॥ देखि उर आनन्दछायो ॥ गिरि० ॥ वाम अंग गिरिराज पियारी आप विभूति रमायो । तीन नयन सिर गंग--मुकुट लखि, चन्द्रभाल झलकायो ॥ जुगल चरणन सिरनायो ॥गिरि०॥ कुण्डल तरल गरल की शोभा मरकत मणिहि लजायो । पंच वदन अरु चार भुज जाके, सो घट भीतर पायो ॥ सकल भ्रम मोह मिटायो ॥गिरि०॥ देवी सहाय भ्रम्यो बहु जग में उन्हैं कहीं नहिं पायो । मन थिर करि प्रभु पदरति मानी, आपमें आप दिखायो ॥ जन्म अरु मरण मिटायो ॥गिरि०॥
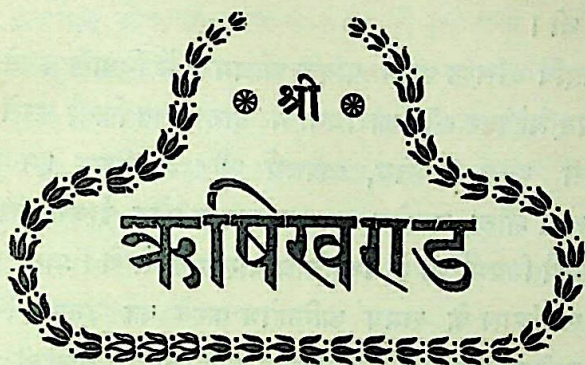
अड़तीसवाँ रत्न

महर्षि वसिष्ठजी

महर्षि वसिष्ठ एक आदर्श महर्षि हो गये हैं। अपने ब्राह्मणत्व और तप पर जितना उनको विश्वास था, उतना किसी दूसरे में नहीं देखा गया। विश्वामित्र ने उन्हें बहुत सताया और उनके मुख से अपने को ब्राह्मण कहलवाना चाहा; पर उन्होंने एक जन्मना क्षत्रिय को ब्राह्मण कहने में बड़ा पाप समझा और उन्हें राजर्षि ही कहते रहे। जिस समय विश्वामित्र ने उनके ऊपर अनेक भयंकर अस्त्र-शस्त्र चलाये तो उन्होंने अपने ब्रह्मदण्ड के द्वारा उनका निवारण किया। यह ब्रह्मवर्चस

और अलौकिक शक्ति उन्हें भगवान् शंकर के अनुग्रह से ही मिली थी।

महर्षि वसिष्ठ अपने पवित्र आश्रम * में निवास करते हुये भगवान् महेश्वर की आराधना में दारुण तप किया करते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों यमों तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन पाँचों नियमों का वे यथाविधि पालन करते थे। प्रातः काल और सायंकाल के समय अग्निहोत्र करने का उनका नियम था। यही अग्निहोत्र-विधि पूरी करने के लिए वे नन्दिनी नाम की गौ को अपने आश्रम में रखते थे। उन्हें यह गौ प्राणों से भी अधिक प्यारी थी और इसकी रक्षा और सेवा के लिये वे सब कुछ कष्ट उठा सकते थे। इसी गौ के लिये उनका विश्वामित्र से चिर काल तक युद्ध होता रहा।

नन्दिनी कभी बाँधी नहीं जाती थी। उसे जब भ्रमण करने की इच्छा होती तो वन में जाकर घूम-घाम आती थी। एक दिन वह आश्रम से भ्रमण करने के लिए कुछ दूर निकल गयी। वहाँ एक बड़ा गढ़ा था। उस गढ़े की गहराई का पता नहीं लगता था। नन्दिनी उस जलाशय के तट पर चर रही थी। उसी समय उसका पैर फिसल गया और वह जल में डूबने लगी।

---

* महर्षि वसिष्ठजी का आश्रम (अर्बुदगिरि आबू) ABU Road राजपूताने में है।

इतने में ही भगवान् सहस्ररश्मि अस्ताचल को चल दिये और यह लोक अन्धकार के समुद्र में डूब गया। प्रतिदिन नन्दिनी सूर्यास्त होने के पहले ही आश्रम में पहुँच जाया करती थी। उस दिन वह रात हो जाने पर भी नहीं आयी तो वसिष्ठ को इसकी बड़ी चिन्ता हुई और वे उसे खोजने के लिये निकले। ऊबड़-खाबड़ भूमि में खोजते हुए वे उसी गड़हे के समीप पहुँचे। उसमें से उसका डकराना सुन कर मुनि को नन्दिनी के गिर जाने का पता लग गया।

महर्षि वसिष्ठ ने उसी समय सरस्वती नदी का स्मरण किया और उनकी प्रार्थना से सरस्वती ने अपने निर्मल जल से उसे लबालब भर दिया। नन्दिनी झट बाहर आ गयी और महर्षि के साथ आश्रम को चली गयी। वसिष्ठ ने सोचा कि इस महागर्त का रहना जीवों के लिये बहुत हानिकर है, और अनेक जन्तुओं के गिर कर मर जाने का भय है, इस लिये इसको भर देना परम आवश्यक है।

इस विचार से वे पर्वतराज हिमालयके यहाँ गये। हिमालय को महर्षि के आगमन से बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने पाद्य, अर्घ्य आदि सत्कार से उनका प्रेमपूर्वक स्वागत किया और कहने लगे कि हे मुनिश्रेष्ठ! आज इन पवित्र चरणों की रज के स्पर्श से यह देश पवित्र और मेरा जीवन सफल हो गया। देवों के भी परम पूज्य आप जैसे महर्षियों का आगमन साधारण भाग्य से नहीं होता। मेरे योग्य सेवा का आदेश कीजिए।

आप ऐसे महर्षियों की सेवा में मैं अपना जीवन भी समर्पण कर सकता हूँ ।

वसिष्ठ ने उनके नम्र वचन सुन कर प्रसन्न होते हुए कहा कि हे नगाधिराज! मेरे आश्रम के सन्निकट ही एक बड़ा भयंकर गर्त है। उसमें अनेक जन्तु गिर कर अपने प्राण गवाँ देते हैं। हाल ही में मेरी नन्दिनी भी उसमें गिर कर मरने से बची। भाग्यवश मुझे तो इसका पता लग गया नहीं तो वह बेचारी डूब कर मर ही जाती। मैंने बड़ी कठिनता से उसे निकाला। मुझे फिर उसके गिर जाने का डर है। इस लिये आप किसी पर्वत को यहाँ से भेज दीजिये। वह वहाँ पर जाकर बैठ जाय और गर्त भर जाय।

हिमालय ने कहा कि महाराज! आप कृपया उस गर्त की लम्बाई चौड़ाई बता दीजिए जिससे उसी नाप का मैं एक पर्वत भेज दूँ। वसिष्ठ ने उत्तर दिया कि वह गर्त दो हजार हाथ चौड़ा है और तीन हजार हाथ का लम्बा है। उसकी गहराई का पता लगाना तो असम्भव ही है। आप इसी नाप के अनुसार किसी पर्वत को भेजिये।

हिमालय ने कहा कि मैं तो पर्वत भेजने के लिए तैयार हूँ; पर उसके वहाँ तक जाने का उपाय क्या है? पहले तो पर्वतों के पक्ष थे और वे जहाँ चाहते थे; उड़ कर चले जाते थे पर अब तो इन्द्र ने उनके पक्षों को काट कर उन्हें अचल कर दिया है जिससे वे कहीं नहीं आ-जा सकते। ऐसी अवस्था में यहाँ से

पर्वत का पहुँचना असम्भव है ।

वसिष्ठ ने कहा कि हे पर्वतोत्तम ! आप का कहना तो ठीक है; पर एक उपाय से काम चल सकता है। वह यह कि तुम्हारे नन्दिवर्द्धन नामक पुत्र का अर्बुद नामवाला एक मित्र है, उसमें उड़ने की शक्ति है। वह यदि चाहे तो नन्दिवर्द्धन को क्षण भर में मेरे आश्रम के समीप पहुँचा देगा। यदि मेरे पर आप की श्रद्धा हो तो विना किसी प्रकार के दुःख माने उसे वहाँ भेज दीजिये।

हिमालय वड़े संकट में पड़ गये। उनका एक पुत्र मैनाक पक्षच्छेद के भय से सागर में छिपा वैठा था। दूसरे को वसिष्ठ लेने आये। पुत्रों के वियोग में जीवन किस प्रकार सुख से वीतेगा, उन्हें इसी वातकी चिन्ता थी। परन्तु इसी के साथ २ उन्हें इसका भी भय था कि कहीं वसिष्ठ जी प्रतिज्ञाभङ्ग से कुपित हो कर शाप न दे दें। उन्होंने पुत्रवियोग को ब्राह्मण-शाप से अच्छा समझ कर नन्दिवर्धन को वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में जाने का आदेश दिया।

नन्दिवर्धन ने विनयपूर्वक अपने पिता से कहा कि हे पिताजी ! वह देश तो वहुत ही बुरा है। वहाँ पलाश, खैर, धव, सेमर आदि जितने वृक्ष हैं। उनमें न सुगन्धित पुष्प और न मधुर फल ही होते हैं। भयंकर कोल, भील आदि दुष्ट जातियाँ ही उस प्रान्त में निवास करती हैं। वहाँ कोई नदी भी नहीं बहती, जिससे उस देश में रमणीयता आ सके।

सबसे प्रधान बात यह है कि आपके चरणों की सेवा छोड़ कर मुझे कहीं दूसरी जगह जाने में बड़ा कष्ट होगा। अतएव आप हमें अपनी ही शरण में रखिए।

वसिष्ठजी ने कहा कि वहाँ की खराबियों से तुम तनिक भी मत डरो। तुम्हारे शिखर पर मैं नित्य स्वयं निवास करूँगा। विमल सलिल से लहराती हुई नदियाँ बुलाऊँगा। जिससे मनोहर पत्र, पुष्प और फलों से परिपूर्ण वृक्षों से उस देश की अलौकिक शोभा हो जायगी। मनोहर कलरव करनेवाले असंख्य पक्षियों से उसकी रमणीयता देखते ही बनेगी। उस समय नाना प्रकार के जन्तु आकर उस देश में निवास करने लगेंगे। इन सब के अतिरिक्त मैं अपनी तपस्या के बल से भगवान् शंकर को लाकर उस प्रदेश का इतना महत्त्व बढ़ा दूँगा कि पृथ्वी के सभी प्रान्तों से सहस्रों की संख्या में लोग वहाँ आकर अपना जन्म सफल करेंगे।

मुनि के वचन सुन कर नन्दिवर्धन को बड़ी प्रसन्नता हुई और अर्बुद की सहायता से वसिष्ठजी के साथ उनके आश्रम में जा पहुँचा। अर्बुदाचल ने नन्दिवर्द्धन को उस गर्त में छोड़ दिया और स्वयं भी वहाँ ही रह गया। उन दोनों पर्वतों पर वसिष्ठजी बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि तुम लोगों को जो वर माँगना हो माँग लो, मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

अर्बुदाचल ने कहा कि हे महर्षे! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं, तो यह वर दीजिये कि मेरे इस निर्मल सलिल से परिपूर्ण

झरने की ख्याति संसार भर में नागतीर्थ के नाम से हो जाय। इसमें स्नान करने से मनुष्य को स्वर्ग मिले। यदि वन्ध्या स्त्री इसमें स्नान कर ले, तो उसे पुत्र प्राप्त हो।

वसिष्ठजी ने कहा कि तुम्हारी प्रार्थना मुझे स्वीकार है। जो वन्ध्या इस जल में स्नान करेगी वह सब लक्षणों से सम्पन्न सुन्दर पुत्र पायेगी। श्रावण शुक्ल पंचमी को जो नारी फलों से इस की पूजा करेगी वह अवश्य पुत्रवती होगी। जो मनुष्य इस पावन तीर्थ में स्नान करेंगे वे जरा और मरण से रहित, परम धाम को प्राप्त होंगे।

नन्दिवर्धन ने वर में यही माँगा कि आप सर्वदा यहाँ निवास करें और इस स्थान का नाम अर्बुद प्रसिद्ध हो। वसिष्ठजी ने इन दोनों वरों को देकर उसी पर्वत पर अपना स्थायी आश्रम वनाया और अरुन्धती समेत उसमें निवास करने लगे। अपनी तपस्या के प्रभाव से वे गोमती नदी को वहाँ ले आये जिसमें स्नान करने से घोर पाप करनेवाला भी मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। माघ के महीने में मनुष्य इसमें स्नान कर जितने तिलों का दान करता, उतने ही वर्ष तक स्वर्ग में अलौकिक सुख भोगता है।

उस स्थान का इतना सौन्दर्य और माहात्म्य वढ़ाने पर भी वसिष्ठजी को सन्तोष नहीं हुआ और शिवजी के निवास के विना वह प्रान्त सूना सा प्रतीत होता था। जिस देश में भगवान् का मन्दिर न हो वह कितना भी सुन्दर क्यों न हो कुदेश ही

है। इसी लिए वसिष्ठजी ने महादेवजी की आराधना में दुष्कर तप करना प्रारम्भ कर दिया। सौ वर्षों तक उन्होंने केवल फलों का आहार किया। दो सौ वर्ष तक केवल सूखे पत्ते खा कर रहे। पाँच सौ वर्ष तक केवल जल पीकर बिताए और एक हजार वर्ष तक केवल हवा पी कर भगवान् की आराधना करते रहे। तब भगवान् शङ्कर उनके ऊपर प्रसन्न हुए। उस समय पर्वत को भेद कर उनके सामने एक परम सुन्दर *शिवलिंग निकल आया। उसको देख कर वसिष्ठजी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे इस स्तोत्र से उसकी स्तुति करने लगे:—

नमः शिवाय शुद्धाय सर्वगायामृताय च ।
कपर्दिने नमस्तुभ्यं नमस्तस्मै त्रिमूर्तये ॥ १ ॥
नमः स्थूलाय सूक्ष्माय व्यापकाय महात्मने ।
निषंगिणे नमस्तुभ्यं त्रिनेत्राय नमोनमः ॥ २ ॥
नमश्चन्द्रकलाधार नमो दिग्वसनाय च ।
पिनाकपाणये तुभ्यमष्टमूर्ते नमोनमः ॥ ३ ॥
नमस्ते ज्ञानरूपाय ज्ञानगम्याय ते नमः ।
नमस्ते ज्ञानदेहाय सर्वज्ञानमयाय च ॥ ४ ॥

---

* (अर्बुदगिरि) पर अचलेश्वर महादेव हैं ।

पावनपुरी काशी में संकटाघाट पर वसिष्ठेश्वर शिव हैं ।

काशीपते नमस्तुभ्यं गिरिशाय नमोनमः ।
जगत्कारणरूपाय महादेवाय ते नमः ॥ ५ ॥
गौरीकान्त नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं शिवात्मने ।
ब्रह्मविष्णुस्वरूपाय त्रिनेत्राय नमोनमः ॥ ६ ॥
विश्वरूपाय शुद्धाय नमस्तुभ्यं महात्मने ।
नमो विश्वस्वरूपाय सर्वदेवमयाय च ॥ ७ ॥

उसी लिङ्ग में से यह वाणी निकली कि हे मुने! तुम्हारे मन की सब बातें मैं जानता हूँ। आज से मैं सदा इस लिङ्ग में निवास करूँगा। इसके पूजन से मनुष्यों को सब प्रकार के सुख प्राप्त होंगे । तुम्हारे द्वारा किये इस स्तोत्र का पाठ करने से मनुष्य की सब कामनायें पूर्ण होंगी। मेरी प्रसन्नता के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी गयी, इन त्रैलोक्यपावनी मन्दाकिनी में स्नान कर जो इस लिंग के दर्शन करेगा, वह जरा और मरण से रहित परम पद को प्राप्त होगा।

इतना वरदान देकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये। और वसिष्ठजी अत्यन्त प्रसन्न होकर अनेक तीर्थों और देवों को वहाँ ले आये । वसिष्ठजी की तपस्या के प्रभाव से वह निर्जन और दुष्ट भूभाग संसार भर में भंभूतीर्थ के नाम से विख्यात हो गया और असंख्य मुनियों ने सिद्धि प्राप्त करने के लिए वहाँ आकर आश्रम बना लिया। इस तीर्थ का माहात्म्य स्कन्दपुराण में विस्तारपूर्वक बताया गया है:—

"नागतीर्थं समागत्य कृष्णपक्षेऽश्विनस्य च ।
यः पुनः कुरुते श्राद्धं तस्य वंशो न नश्यति ॥२४॥
न प्रेतो जायते राजन् ! वंशे तस्य कदाचन ।
यः पुमान् कामरहितः स्नानं तत्र समाचरेत् ॥२५॥
श्राद्धं च पार्थिवश्रेष्ठ ! तस्य लोकाः सनातनाः ।
या स्त्री पुष्पफलान्येव तीर्थे चास्मिन् विसर्जयेत् ॥२६॥
सा स्यात् पुत्रवती धन्या सौभाग्यं च प्रपद्यते ।
निष्कामा स्वर्गमाप्नोति दुष्प्राप्यं त्रिदशैरपि ॥२७॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन यात्रां तस्य समाचरेत् ।"

(प्रभासखण्ड अर्बुद खं० अ० ५)

उन्तालीसवाँ रत्न

पराशरजी

वसिष्ठ और विश्वामित्र में बड़ा वैर रहता था। विश्वामित्र क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे, परन्तु अपने तपोबल से ब्राह्मण बनना चाहते थे। उनकी घोर तपस्या के कारण सभी मुनि उन्हें ब्रह्मर्षि कहने लगे थे; लेकिन वसिष्ठ तब भी उनको राजर्षि

ही कहते रहे। इस बात पर वसिष्ठ और विश्वामित्र में कई वार भीषण युद्ध हुआ; पर विश्वामित्र वसिष्ठ के ब्रह्मतेज का सामना न कर सके।

युद्ध में पराजित होकर विश्वामित्र ने कूटनीति से उनको नीचा दिखाना चाहा। एक वार उन्होंने रुधिर नामक एक राक्षस को वसिष्ठ के समीप भेजा। उसने वसिष्ठ के १०१ पुत्र, जिनमें शक्ति प्रधान थे, खा लिये। अपने तनयों का इस प्रकार विनाश देखकर वसिष्ठ बहुत दुःखित हुए और करुण क्रन्दन करने लगे। अपने कुल का क्षय देखकर मारे शोक के वे अपनी पत्नी अरुन्धती के साथ पर्वत से पृथ्वी पर कूद पड़े; किन्तु पृथ्वी माता ने उन्हें अधिक चोट न आने दी, जिससे किसी तरह उन दोनों के प्राण बच गए।

शक्ति की परम पतिव्रता पत्नी अदृश्यन्ती ने पतिवियोग से अत्यन्त कातर होकर भी अपने कुल का सर्वनाश होते देख धैर्य से काम लिया और अपनी सास और ससुर को ढाढ़स दिया। उसने वसिष्ठजी से कहा कि हे महाराज! आप अपने शरीर की रक्षा कीजिये। जिससे मेरे गर्भ में स्थित पौत्र को तो देख सकें। आप ही यदि शरीर त्याग देंगे तो उसकी रक्षा कौन करेगा?

अदृश्यन्ती के समझाने-बुझाने पर वसिष्ठजी को कुछ धैर्य हुआ और वे किसी प्रकार पृथ्वी से उठे। अरुन्धती ने उठ कर बड़े स्नेह से वहू के माथे पर हाथ फेरा। उनके उठते ही

अदृश्यन्ती बेहोश होकर भूमि पर गिर पड़ी । उसी समय उसके उदर से वेदमन्त्र का उच्चारण सुन पड़ा । वसिष्ठ बहुत सावधान होकर मन्त्रपाठ करनेवाले को खोजने लगे; पर कहीं किसीका पता नहीं चला । इतने में आकाश से दयानिधि भगवान् विष्णु ने मेघगम्भीर स्वर से कहा कि हे वसिष्ठ ! तुम्हारे पौत्र के मुख से यह वेदध्वनि निकल रही है । अदृश्यन्ती के उदर में मेरे समान प्रतापी बालक है । वह शङ्कर भगवान् का परम भक्त होगा और शंकरजी की ही कृपा से वह अपने कुल का उद्धार करेगा। इतना कह कर विष्णु भगवान् अन्तर्धान होगये । वसिष्ठजी को उन वचनों से बहुत कुछ धैर्य हुआ; पर अदृश्यन्ती को विह्वल देख कर वे बहुत घबड़ाये । अदृश्यन्ती पति-वियोग में माथा पटक रही थी, छाती पीट रही थी और प्राण तक देने पर उतारू होगयी थी । वसिष्ठ ने बहुत समझा-बुझा कर उसे शरीर परित्याग करने से रोका। अरुन्धती ने कहा कि तुम्हारी समझदारी ही से इस समय इस कुल की रक्षा हो सकती है, अन्यथा इस उत्तम कुल का नाम तक मिट जायगा ।

अदृश्यन्ती ने अपनी सास और ससुर को इस प्रकार विलाप करते देख कर कहा कि यदि मेरी इस पापमयी और अधम देह से कुल की रक्षा हो सकती है तो मैं इसको बचाऊँगी, अन्यथा यह देह रखने योग्य तो नहीं थी। पति-विहीन रहने से मैं मरना ही अच्छा समझती हूँ, मुझे इस शरीर से जीवन भर

कष्ट उठाने पड़ेंगे । स्त्री का एकमात्र बन्धु पति ही है। माता, पिता, पुत्र, सास, ससुर आदि कोई उसका बन्धु नहीं है। जिस प्रकार लता वृक्ष के सहारे विना रह नहीं सकती। उसी प्रकार पत्नी पति के आश्रय विना सुखी नहीं रह सकती। शास्त्रों में तो कहा गया है कि पत्नी पति का आधा शरीर होती है; पर आज मैं उस वचन को झूठा होता देखती हूँ । मेरे पति तो परलोक को सिधारे और मैं यहीं पड़ी विलख रही हूँ ।

अनेक मुनियों के आश्वासन देने पर अदृश्यन्ती ने शरीर परित्याग करने का विचार छोड़ कर गर्भ की रक्षा करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। जब दस महीने व्यतीत हो गये और प्रसवकाल आया, तो उसने परम प्रतापशाली, अत्यन्त तेजस्वी पुत्र उत्पन्न किया। उस बालक के उत्पन्न होते ही पितर लोग बहुत आनन्दित हुए। ब्रह्मज्ञानी लोग भूलोक में आनन्दोन्मत्त हो उठे और स्वर्ग में देवता लोग दुन्दुभियाँ बजाने लगे। सारे विश्व में आनन्द छा गया और उस बालक का नाम पराशर रक्खा गया।

अदृश्यन्ती बड़ी सावधानी से पराशर का पालन-पोषण करने लगी; परन्तु वह पति-वियोग में सदा दीनवदन रहा करती और शरीर में एक भी आभूषण नहीं पहिनती थी। पराशर जब कुछ समझदार हुए तो उन्होंने पूछा कि हे माता जी! तुम इतनी दीन-मलीन क्यों हो? मेरे पिताजी कहाँ हैं और उनका क्या नाम है? पराशर के पूछने पर माता ने आद्यो-

पान्त सब कथा सुना दी और विलख विलख कर रोने लगी।

पराशर ने राक्षस द्वारा अपने पिता का वध सुनकर भगवान् शंकर की आराधना करके पिता के दर्शनों तथा त्रैलोक्य के विनाश करने का संकल्प किया। उनकी ऐसी दारुण प्रतिज्ञा सुन कर वसिष्ठ ने कहा कि हे प्रियपौत्र! तुम्हारा यह संकल्प बहुत उत्तम है, तुम अवश्य भगवान् सदाशिव की उपासना कर अपनी कामना पूर्ण करो। परन्तु त्रैलोक्य ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो तुम उसको विनाश करने पर उद्यत हो? इससे महा अनर्थ हो जायगा। इसकी मैं सलाह कभी नहीं दूँगा। हाँ! राक्षसों का विनाश तुम अवश्य करो और अपने पिता का बदला लो। राक्षसों के विनाश के लिए यदि तुम सर्वेश्वर का पूजन करो तो अच्छा हो।

पराशर उनके वचनानुसार मृत्तिका का शिवलिंग बनाकर षोडश उपचारों से पूजन करने लगे। अनेक प्रकार के जप और पाठ करके परम कातर होकर वे उस शिवलिंग से प्रति दिन यही प्रार्थना करते कि हे देवदेव! मेरे परम तेजस्वी पिता को रुधिर नामक राक्षस ने खा लिया है। मैं भाइयों समेत अपने पिता के दर्शन करना चाहता हूँ।

भगवान् शंकर उनकी आराधना से बहुत प्रसन्न हुए और ब्रह्मादिक देवों तथा पार्वती समेत उनके समीप आये। शिवजी की कृपा से उनकी दिव्य दृष्टि हो गयी और उन्हों ने सब देवों के प्रत्यक्ष दर्शन किये। उनके दर्शन कर के कहने लगे कि इस

संसार में मुझ से बढ़ कर और कौन भाग्यवान् होगा। आप स्वयं मेरी रक्षा करने के लिए पधारे हैं, इससे अधिक भाग्य और क्या हो सकता है। इतने में ही अपने भाइयों समेत शक्ति आकाशमण्डल में दिखायी पड़े। पराशर उन सब को देख कर परम आनन्दित हुए और क्रमशः उनको प्रणाम करने लगे। शक्ति ने भी अपनी माता और पिता को भक्तिपूर्वक अभिवादन किया। इस प्रकार परस्पर मिलन से सभी को बहुत आनन्द हुआ।

भगवान् शिवजी उनकी कामना पूर्ण कर कैलास को चले गये। पराशर अपने पिता का बदला लेने के लिए यज्ञ करने और राक्षसों का विनाश करने लगे। जब बहुत से राक्षस उस अग्निकुण्ड में जल चुके तो वसिष्ठ को उनके ऊपर दया आयी और वे पराशर से कहने लगे कि हे वत्स! अब क्रोध का परित्याग करो। मूढ़ों को क्रोध होता है। बुद्धिमान् लोग क्रोध के वशीभूत नहीं होते। क्रोध से यश और तप दोनों का नाश हो जाता है। इन राक्षसों ने तुम्हारा कुछ अपराध नहीं किया है, अब तुम अपना यह यज्ञ समाप्त करदो।

अपने पितामह की आज्ञा के अनुसार उन्होंने वह यज्ञ समाप्त कर दिया। उसी समय महामुनि पुलस्त्य आ गये और कहने लगे कि हे मुने! तुमने अपने गुरुजन के अनुरोध से क्रोध का परित्याग किया है। इसलिए तुम्हें सम्पूर्ण शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। क्रोध रहते हुए भी तुमने मेरी सन्तति का

विनाश नहीं किया है। इसलिए तुमको यह वर देता हूँ कि तुम अनेक पुराणों के रचयिता होओगे। इस प्रकार वर दे कर वे चले गये और पराशर *भगवान् शंकर की कृपा से सर्वमान्य महाज्ञानी मुनि हुए। उन्होंने अपनी तपस्या से वह काम कर दिखाया कि चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, बालक हो या वृद्ध, सभी उनकी आराधना से उत्कृष्ट फल पा सकते हैं। केदारखण्ड में लिखा है:—

"येऽर्चयन्ति शिवं नित्यं लिङ्गरूपिणमेव च।
स्त्रियो वाप्यथवा शूद्राः श्वपचा ह्यन्तवासिनः॥११६॥
तं शिवं प्राप्नुवन्त्येव सर्वदुःखोपनाशनम्।
पशवोऽपि परं याताः किं पुनर्मानुषादयः॥ ११७॥

(केदारखण्ड अ० ८)

चालीसवाँ रत्न

सांख्य शास्त्र के आचार्य देवताओं के मान्य-
महर्षि कपिलजी

विख्यात सिद्धर्षि कपिल कर्दम प्रजापति के औरस पुत्र

* पावनपुरी काशी के भदैनी मुहल्ले में लोलार्केश्वर के पास ही 'पराशरेश्वर' शिवजी हैं।

और देवहूतिजी के गर्भ से उत्पन्न भगवान् विष्णु के पाँचवें अवतार थे। ज्ञान की प्राप्ति के लिये इन्होंने भगवान् आशुतोष शिव की आराधना की थी। कपिल भगवान् शिवजी के परम कृपापात्र थे। विना शंकर का कृपा के उनमें किसी प्राणी की भक्ति होनी दुर्लभ है। यदि कोई करता भी है तो वह मध्य में ही खंडित हो जाती है। किसी को शास्त्रीय ज्ञान हुआ भी तो वह विश्वास से नहीं कर सकता। जिस मनुष्य की शिवजी में दृढ़ भक्ति है उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। इनकी आराधना से शिवजी ने प्रसन्न होकर कपिलदेव को अपने दर्शन दिये। *भगवान् का दर्शन पाकर वे मुक्तकण्ठ से स्तुति करते हुए बोले—हे भगवन्! मैंने अनेक जन्मों से भक्तिपूर्वक आपकी आराधना की है। अब प्रसन्न होकर मुझे संसारनाशक (जन्म मरण रहित) ज्ञान दीजिए। 'तथास्तु' कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। कपिलजी ने भारत में भगवान् कृष्णचन्द्रजी से कहा है—

कपिल बोले कि मैंने अनेक जन्मों तक भक्तिपूर्वक शंकर की आराधना की थी। तब भगवान् ने मुझपर प्रसन्न होकर संसारनाशक ज्ञान दिया था।

---

*कपिलेश्वर शिवके, मोरतका, Mortakka B.B. & C.I. रेलवे स्टेशन से जाना होता है। वहाँ विष्णु भगवान् के मन्दिर में कपिलेश्वर शिव और मुनि के चरण चिन्ह हैं।

कपिलश्च ततः प्राह सांख्यर्षिदेवसम्मतः ।
मया जन्मान्यनेकानि भक्त्या चाराधितो भवः ॥ ४ ॥
प्रीतश्च भगवान् ज्ञानं ददौ मम भवांतकम् ।

(महा भा० अनुपर्व अ० १८)

एकतालीसवाँ रत्न

महर्षि लोमश

प्राचीन काल में एक बड़ा दरिद्र शूद्र था। भूख और प्यास के मारे वह इधर उधर मारा-मारा फिरता था। कहीं भी उसे पेट भर अन्न नहीं मिलता था। एक समय वह घूमता हुआ एक तीर्थ (जलाशय) के सन्निकट पहुँचा। उसी के समीप एक शिवमन्दिर था। प्यास के मारे उसके प्राण सूखे जा रहे थे। इसलिए वह झटपट उस जलाशय में घुस गया और खूब पानी पीकर स्नान करने लगा। वहाँ स्नान कर पवित्र हो, उसी में से कमल के मनोहर पुष्प लेकर तथा कमलपत्र में शीतल सुगन्धित जल भर करके उसने मन्दिर में प्रवेश किया और महादेवजी को स्नान कराकर बड़ी भक्ति से कमल के पुष्प चढ़ाये। *संसार में अनेक योनियों में करोड़ों बार जन्म ले

* जन्मकोटिसहस्रेषु नानासंसार योनिषु ।

लेकर पापरहित होने पर प्राणी शंकर की भक्ति कर सकता है। यदि उसका प्रारब्ध अच्छा होता है, तो उसको सब साधन मिल जाते हैं और पूर्णभाव से जगत् के कारणभूत शंकर में उसकी अनन्य भक्ति हो जाती है। फिर उसने भगवान् श्रीकण्ठ को साष्टाङ्ग प्रणाम और शुद्ध हृदय से स्तुति करके उस दुःख से मुक्ति पाने की प्रार्थना की।

उसी एक वार की पूजा के प्रभाव से उस शूद्र-शरीर का परित्याग करने के अनन्तर उसने परम कुलीन ब्राह्मण के घर में जन्म पाया। पूर्वजन्म के पुण्य से उसको पिछले जन्म की सब बातों का यथावत् ज्ञान था। अतएव इस संसार को सर्वथा मिथ्या समझ कर उन्होंने प्रारम्भ ही से मौनव्रत धारण कर लिया। उनके पिता ने भगवान् शंकर की बड़ी कठिन आराधना करके वृद्धावस्था में वही एक पुत्र पाया था। अतः उनका नाम ईशान रक्खा गया; परन्तु जब उस वृद्ध ब्राह्मण ने अपने पुत्र को गूँगा देखा तो उन्हें दारुण दुःख हुआ। उनके गूँगेपन को दूर करने का निश्चय कर उन्होंने अच्छे अच्छे वैद्यों से अनेक औषधियां करायीं, अनेक प्रकार के टोने कराये; पर किसी से कुछ लाभ नहीं हुआ। अपने माता-पिता

जन्तोर्विगतपापस्य भवे भक्तिः प्रजायते ॥ ६४ ॥

उत्पन्ना च भवे भक्तिरनन्या सर्वभावतः।

भाविनः करणे चास्य सर्वयुक्तस्य सर्वथा ॥ ६५ ॥

(महाभा० अनु० अ० १७)

को इस प्रकार उपाय करते देखकर ईशान को मन ही मन बड़ी हँसी आती थी और दुःख भी होता था; पर उनका वैराग्य दृढ़ था, अतः वे अपने निश्चय से तनिक भी विचलित नहीं हुए।

ईशान युवावस्था में रात के समय घर से निकल कर चुप-चाप कमल के फूलों से शिवजी की पूजा कर आते और घर में सो जाया करते थे। वे अन्न न खाकर केवल फलाहार करते और मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान् सदाशिव की आराधना किया करते थे।

इस प्रकार आराधना करते-करते सौ वर्ष व्यतीत हो गये। तब भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया। उनके दर्शन पाकर वे मुक्तकण्ठ से उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे कि हे सदाशिव! हे करुणावरुणालय! आप भक्तों की कामना पूर्ण करने में बहुत प्रसन्न होते हैं। थोड़ी सी भी आराधना करने से आप उसे अनन्त फल देते हैं। हे भगवन्! आप यदि मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मुझे जरा और मरण से रहित कर दीजिए। आपके कृपाकटाक्षमात्र से मेरी कामना पूरी हो सकती है।

यह सुनकर भगवान् शम्भु ने अपनी प्रेममयी वाणी में कहा कि नाम और रूप धारण करनेवाले व्यक्ति को जरा और मरण से छुट्टी नहीं मिल सकती। जिसने जन्म लिया है उसको निश्चय मरना होगा। इस लिए जितना चाहो, उतना दीर्घ जीवन मैं तुमको दे दूँ; पर अनन्त जीवन नहीं दे सकता।

भगवान् के ऐसे वचन सुन कर ईशान ने विनयपूर्वक प्रार्थना की कि हे महाराज! यदि आप मुझे अजर-अमर नहीं कर सकते तो यह वर दीजिए कि एक कल्प व्यतीत होने पर मेरा एक रोम गिरा करे और जब सब रोम गिर जायँ तब मेरा शरीर छूटे। शरीर-पात के पश्चात् मैं आप का गण बनूँ। भगवान् सदाशिव ने हर्षपूर्वक उनकी प्रार्थना स्वीकार करली और कैलास को चले गये। उसी दिन से ईशान का नाम लोमश पड़ गया और वे अपना समय भगवान् शंकर की आराधना में बिताने लगे।

शंकर भगवान् की उपासना कर लोमश महर्षि ने इतना दीर्घ जीवन प्राप्त किया जितना कि संसार में किसी को भी नहीं मिला था। उनकी आराधना करने से त्रिलोकी में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो न प्राप्त हो सके। शंकर की सेवा से तथा प्रणवमंत्र के जप से विना प्रयास के मुक्ति मिल जाती है। सब पापों के क्षय हो जाने से शिवजी के चरणों में मन लगता है। जिनका हृदय पापों से भरा भया है उनको शिव-भजन अच्छा नहीं लगता।

पहिले तो इस भारतवर्ष की पावन भूमि में मनुष्य जन्म पाना ही दुर्लभ है, मनुष्य जन्म पाये तो कर्म का अधिकारी होना उससे भी दुर्लभ है। कर्म के अधिकारी द्विजजाति मे जन्म भी प्राप्त हुआ तो भगवान् महादेवजी में अविचल भक्ति होना नितान्त दुर्लभ है। पूर्वजन्म के जब बड़े पुण्य

होते हैं। तभी इन शुभ कर्मों का ओर मन की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। परन्तु शिवभक्तों के लिए न तो संसार में कोई वस्तु दुर्लभ है और न कोई काम ही असाध्य है। अधोलिखित श्लोक इस बात का प्रमाण है:—

"न दुर्लभं न दुष्प्रापं न चासाध्यं महात्मनाम् ।
शिवभक्तिकृतां पुंसां त्रिलोक्यामिति निश्चितम् ।।५८।।"

(कौमारखण्ड अ० १२)

बयालीसवाँ रत्न

शिवभक्त दुस्सहर्षि

गोदावरी के तट पर पूर्वकाल में दुस्सह नामक एक बड़े तपस्वी ऋषि रहते थे। उन्होंने भगवान् शिवजी का ध्यान करते हुए कठिन तप में संलग्न होकर, उत्तम रीति से शास्त्रविधि के अनुसार पाद्य, अर्घ, आचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, गन्ध, अक्षत, पुष्प, विल्वपत्र, दूर्वा, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुंगीफल और ऋतुफल इत्यादि से पूजन करके त्र्यम्बक * मन्त्र का तीन

* ॐ हौं जूं सः ॐ भूर्भुवः स्वः त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्पुष्टिवर्द्धनम् । ऊर्व्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् । स्वः भुवः भूः ॐ सः जूं हौं ॐ ।

करोड़ जप करके भगवान् को प्रसन्न किया। और सब कामनाओं के फलस्वरूप शिवजी का दर्शन पाया। उनकी प्रार्थना से उसी ज्योतिर्लिंग के रूप से वहाँ भगवान् स्थिर हो गये। जो *त्र्यम्बकेश्वरजी के समीप त्र्यम्बक मन्त्र को जपता है, वह महा सिद्धि को प्राप्त होता है। उस शिवभक्त को दर्शन करनेवाले भी पातक से रहित और मुक्त हो जाते हैं।

(प्रभास ख० अ० ८६)

तैंतालीसवाँ रत्न

महर्षि कालभीति

किसी समय काशीपुरी में एक परम शिवभक्त मांटि नाम के महर्षि रहते थे। वे बड़े प्रतापी, यशस्वी एवं भाग्यवान् थे। यदि उन्हें किसी बात का दुःख था, तो इसका कि उनके कोई वंश बढ़ानेवाला पुत्र नहीं था। उन्होंने पुत्रप्राप्ति के लिए सौ वर्षों तक आशुतोष भगवान् की उपासना की। अन्त में उनका परिश्रम सफल हुआ। भगवान् महर्षि के सामने प्रकट हुए और

* त्र्यम्बकेश्वर शिव, नासिक NASIK ROAD G. I. P. रेलवे स्टेशन से १८ मील की दूरी पर हैं।

कहने लगे कि हे महर्षे ! तुम्हारी उपासना से मैं परम प्रसन्न हूँ और वर देता हूँ कि तुम्हारे बड़ा प्रतापी बुद्धिमान् तथा वंश का उद्धार करनेवाला सर्वगुणसम्पन्न पुत्र होगा ।

महादेवजी के वरदान से कुछ समय के बाद मांटि की पत्नी चटिका ने गर्भ धारण किया । परन्तु चार वर्ष तक बालक गर्भ से ही नहीं निकला । यह देख कर माता-पिता को बड़ी चिंता हुई । ऐसी अवस्था में महर्षि ने गर्भ को सम्बोधन कर के कहा कि हे वत्स ! साधारण श्रेणी के पुत्र भी माता-पिता को प्रायः सुख देनेवाले होते हैं । तुम तो भगवान् शंकर के आशीर्वाद से मिले हो, फिर तुम इतना कष्ट क्यों दे रहे हो ? हे प्रिय ! तुम मनुष्ययोनि में जन्म लेने से क्यों घबड़ाते हो ? इस मनुष्य-योनि में तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये सब साधारण कर्म से ही प्राप्त हो सकते हैं । अन्य योनि में उत्पन्न होनेवाले जीव सदा इसी के लिए लालायित रहते हैं कि कब मनुष्ययोनि में जन्म मिले और देवकर्म, तथा पितृकर्म करके हम अपना जीवन सुधारें । हे वत्स ! तुम देवों के भी स्पृहणीय,* इस मनुष्य शरीर का अनादर कर अब तक गर्भ ही में क्यों पड़े हुए हो ?

बालक ने गर्भ ही में से उत्तर दिया कि हे पूज्यपाद पिता-जी ! मैं इस बात को भली भाँति समझता हूँ कि संसार में

---

* अनादृत्य कथं ब्रूहि स्थितश्चोदर एव च ।

तत्तु मनुष्यजन्मत्वं स्पृहणीयं दिवौकसाम् ॥ १४ ॥

मनुष्ययोनि प्राप्त होना असाधारण भाग्य की बात है और इसी योनि में सब शुभ कर्म करने का अधिकार है; पर मैं कालमार्ग से बहुत डरता हूँ। कालमार्ग में रहनेवाला जीव चाहे स्वर्ग में जाय, चाहे नरक में रहे, उसे सुख कहीं भी नहीं मिलता। इससे कर्म की ओर प्रवृत्ति होती है और कर्मों से बन्धन का होना अवश्यम्भावी है। अर्चिमार्ग से मोक्ष प्राप्त होता है। यदि मुझे यह विश्वास हो जाय कि संसार में कालमार्ग का अनुसरण न करके हमको अर्चिमार्ग प्राप्त होगा तो मैं अभी गर्भ के बाहर आ जाऊँ।

महर्षि मांटि यह उत्तर सुन कर बड़े चिन्तित हुए और सहसा कुछ उपाय न सूझने पर भगवान् शंकर की शरण गये। वहाँ वे अनेक प्रकार की स्तुति कर परम आर्त शब्दों में कहने लगे कि हे देवदेव! हे जगन्निवास! मुझ अशरण की रक्षा कीजिये। आपके विना कौन मेरे पुत्र को कामनायें पूरी कर सकता है। जैसे आपने पुत्र दिया है, उसी तरह आप इसको गर्भ से बाहर करने का भी प्रयत्न कीजिये।

उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर महादेवजी ने आठों विभूतियों को उस गर्भ के समीप भेजा। उनमें चार सात्त्विक विभूतियों (अर्थात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य) ने जाकर कहा कि हे महामते! हम चारों तुम्हारी बुद्धि में सदा वर्तमान रहेंगी और कभी तुमको छोड़ कर नहीं जायँगी। अवशिष्ट चार तामस विभूतियों ने (अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य

ने कहा कि हम तुम से सदा दूर रहेंगी, हमसे तुमको कुछ भी भय न होगा। विभूतियों का वचन सुन कर वह वालक गर्भ से बाहर निकल आया। बाहर आते ही वालक काँपने और रोने लगा। तब विभूतियों ने महर्षि मांटि से कहा कि अब भी यह वालक कालमार्ग से भयभीत हो रहा है। अतएव इसका नाम कालभीति होगा।

कालभीति दिन दिन उसी प्रकार बढ़ने लगे जिस प्रकार शुक्लपक्ष में चन्द्रमा बढ़ता है। उनके सब संस्कार शास्त्रविहित रीति से उचित समय पर किये गये। वे बड़े बुद्धिमान् थे और सदा भगवान् रुद्र की उपासना में लगे रहते थे। वे 'सद्यो जातं प्रपद्यामि' * इत्यादि पाँच मन्त्रों का जप करते हुए और

---

* ॐ सद्यो जातं प्रपद्यामि। सद्यो जाताय वै नमो नमः भवे भवे नाति भवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ॥ १ ॥

ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रथमनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः ॥ २ ॥

ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः। शर्वेभ्य सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥ ३ ॥

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥४॥

ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्। ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम् ॥ ५ ॥

अनेक शिव तीर्थों में स्नान करते हुए तीर्थयात्रा करने लगे। इसी यात्रा में उन्हें एक विल्व का वृक्ष मिला। उसके समीप पहुँचते ही उनके मन में कुछ शान्ति आयी और वे उसके नीचे बैठ कर जप करने लगे। एक लक्ष जप समाप्त होने पर उनके सब बाह्यकरणों और अन्तःकरणों का लय हो गया। वे क्षण भर में परमानन्दस्वरूप हो गये। वह आनन्द अद्वितीय था और कोई उसके बराबरी का आनन्द संसार में हो ही नहीं सकता*। वे क्षण भर उस आनन्द में मग्न रहे और फिर पूर्ववत् हो गये।

कालभीति को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ और वे अपने मन ही मन सोचने लगे कि यह आनन्द मुझको काशी नैमिषारण्य, प्रभासक्षेत्र, केदारक्षेत्र, अमरकण्टक, श्रीपर्वत आदि किसी भी पावन तीर्थ में नहीं प्राप्त हुआ। इस समय मेरी सब इन्द्रियाँ निर्विकार हो गयी हैं और गंगाजल के समान निर्मल प्रतीत हो रही हैं। मेरे मन में केवल धर्म की भावना उत्पन्न हो रही है। स्थान का बड़ा माहात्म्य और प्रभाव है। निर्दोष, पवित्र और उपद्रवरहित स्थान में किये धर्म कर्म सहस्रगुणित फल देते हैं। मेरे मन की शान्ति इस स्थान के ही प्रभाव से हुई है। अतः मैं इसी स्थान में बैठ कर तप करूँगा। यह स्थान काशी, प्रयाग आदि सब तीर्थों से उत्तम है।

---

* केवलं परमानन्दस्वरूपोऽसौ भवत्क्षणात्।
तस्यानन्दस्य नौपम्यं स्वर्गादिना भवेत् क्वचित् ॥ ३२ ॥

जो लोग सदा भिन्न भिन्न तीर्थों की यात्रा के फेर में पड़े रहते हैं, उन्हें कभी सिद्धि तो मिलती ही नहीं, केवल शारीरिक कष्ट मिलता है। ऐसा विचार कर वे उसी बिल्व-वृक्ष के नीचे पैर के एक अँगूठे पर खड़े होकर रुद्रमन्त्रों को जपने लगे और सौ वर्ष के बाद जल ग्रहण करने का नियम किया। इस प्रकार कठिन तप करते हुए जब सौ वर्ष बीत गये, तो एक दिन एक मनुष्य जलपूर्ण कलश भर कर लाया और प्रणाम करता हुआ कालभीति से बोला कि हे मुने! अब आप का व्रत पूरा हो चुका। आज सौ वर्ष समाप्त हो गये। अतएव इस जल को स्वीकार कर मेरा परिश्रम सफल करिये।

कालभीति ने उस व्यक्ति से कहा कि यदि तुम मुझे जल पिलाना चाहते हो, तो अपनी जाति और आचार-विचार का पूरा परिचय दो। मैं अज्ञात पुरुष के हाथ का जल नहीं पी सकता। उस व्यक्ति ने कहा कि मैं अपने माता-पिता को नहीं जानता। वे कभी रहे होंगे और अब नष्ट हो गये हैं अथवा प्रारम्भ ही से न रहे होंगे। मैं सदा से ऐसा ही हूँ। आचार और धर्म से भी मुझे कुछ काम नहीं है। इस लिये न तो मेरा कोई धर्म है और न मेरे कोई आचार है।

कालभीति ने उत्तर दिया कि यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हारा जल नहीं पी सकता। मेरे गुरु ने मुझे बताया था कि जिसके कुल की पवित्रता के विषय में पूरा ज्ञान न हो, उसका छुआ हुआ अन्न-पान ग्रहण करने से साधुजनों का

पतन हो जाता है*। जो भगवान् रुद्र को नहीं जानता और जो रुद्र का भक्त नहीं है, उसका अन्न-जल ग्रहण करने से मनुष्य अवश्यमेव पातकी हो जाता है। जो व्यक्ति शिवजी को समर्पण किये विना भोजन करता, वह पापी हो जाता है। उसका अन्न-जल स्वीकार करने से पाप लगता है। जिस प्रकार गङ्गोदक से भरा हुआ पूर्ण कलश मद्य की एक से अपवित्र हो जाता है। उसी प्रकार शिवभक्त किसी शिवभक्तिरहित मनुष्य के हाथ का अन्न ग्रहण करने से अपवित्र हो जाया करता है।

उस पुरुष ने कहा—हे मुने! तुम्हारी वातों को सुन कर मुझे तो हँसी आती है। तुम या तो वहुत भोले-भाले या मूर्ख अथवा पागल हो गये हो। तुम यह नहीं जानते कि शिव व्यापक हैं। अच्छी वस्तु हो या वुरी, सव में उनकी सत्ता है। उनमें भेद दृष्टि रखनेवाला मनुष्य नरकगामी होता है। इस जल में क्या छूत लगी है? यह मिट्टी का वना हुआ घड़ा है, आग में अच्छी तरह पकाया गया है, सुन्दर निर्मल जल से भरा है। फिर यह अपवित्र कैसे समझा जा सकता है? यदि मेरे छूने से इसको अपवित्र मानते हो तो तुम और हम दोनोँ एक ही भूमि पर खड़े हैं। मुझसे भी इस भूमि का स्पर्श है और इसी भूमि का स्पर्श तुम से भी है।

---

* न ज्ञायते कुलं यस्य वीजशुद्धिं विना ततः ॥
तस्य खादन् पिवन्वापि साधुः सीदति तत्क्षणात् ॥१०॥

परम्परया मेरे शरीर का स्पर्श तुम्हारे शरीर से हो गया। बस, तुम भी अपवित्र हो गये। इस लिये पृथ्वी में न रह कर तुमको आकाश में रहना चाहिए। हे मुने! इन सब बातों पर यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय, तो तुम्हारा कहना मूर्खों की बातों के समान मालूम होगा।

परम ज्ञानी कालभीति ने मधुर शब्दों में उत्तर दिया कि हे अज्ञात पुरुष! तुम्हारा कथन यथार्थ है, भगवान् इस विश्वप्रपञ्च के कण कण में विद्यमान हैं।

परन्तु वस्तुभेद से शुद्धाशुद्ध का भेद अवश्य हो जाता है। देखो न! अग्नि के संयोग से वायु उष्ण हो जाती है। जल के संयोग से ठण्ढी वायु वहती है। वायु वही है; पर संसर्ग से उसमें उष्णता और शीतलता प्रतीत होने लगती है। सब आभूषणों में वही सुवर्ण रहता है; पर वह कहीं शुद्ध और कहीं मिश्रित होता है। शुद्ध सुवर्ण के आभूषणों की कान्ति और ही होती है, मिश्रित सुवर्णवालों की और। इसी प्रकार मनुष्य मनुष्य सब एक हैं; पर जाति और आचार के भेद से उनमें विभिन्नता आ ही जाती है।

अपने कथन को समाप्त करते हुए कालभीति ने कहा कि यदि इस प्रकार का भेद न हो तो सभी श्रुति-स्मृति, शास्त्र-पुराण व्यर्थ हो जायँ। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि सात्विक आहार करनेवाले, सात्त्विकवृत्ति से रहने-वाले मनुष्य स्वर्ग को जाते हैं। रजःप्रधान प्राणी इसी

भूलोक में रह जाते और तामसिक आहार-विहार के जीव नरक में ढकेल दिये जाते हैं। इस लिये हे भाई! मैं तुम्हारा जल किसी प्रकार नहीं ग्रहण कर सकता। मेरे लिये तो शास्त्र ही प्रमाण है।

ऐसे दृढ़ वचन सुने तो उस पुरुष ने हँसते हँसते दाहिने पैर के अँगूठे से पृथ्वी में एक बड़ा भारी गड़हा बनाथा और उसी में उस घड़े का पानी डाल दिया। उस घड़े भर जल से वह बड़ा गड़हा ऊपर तक भर गया और उसमें से पानी बहने लगा। थोड़ी ही देर में एक निर्मल जल का कुण्ड सा लहराने लगा। पर इसे आसुरी माया समझ कर उन्हें कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ और वे अपनी बात पर डटे रहे।

उनकी हठ देख कर वह पुरुष बिगड़ गया और कहने लगा कि हे ब्राह्मण! तू बड़ा मूर्ख मालूम पड़ता है। अब तो यह कुण्ड हो गया, अब इसमें मेरा क्या रह गया? क्या इसका जल भी पीने में दोष है? कालभीति ने विचार करते हुए कहा कि बात तो ठीक है कि यह कुण्ड है और इस का जल पीने में कोई दोष नहीं; परन्तु मैं अपनी आँखों देखी बात को कैसे भुला सकता हूँ। भाई! चाहे यह जल पवित्र हो या अपवित्र, मैं इस जल को कदापि नहीं पियूँगा।

इस प्रकार के वचन सुन कर वह पुरुष देखते ही देखते अन्तर्हित हो गया। यह देख कालभीति को बड़ा आश्चर्य हुआ

थोड़ी देर बाद उस बिल्व वृक्ष के नीचे की भूमि से दसों दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ एक विशाल शिवलिङ्ग निकल आया। उसका प्रादुर्भाव होते ही आकाश मे अप्सरायें नाचने लगीं, गन्धर्व गाने और देवता गण पारिजात पुष्पों की वर्षा करने लगे। मुनिमण्डली जयध्वनि से संसार को व्याप्त करने लगी। उस महोत्सव को देख कर महर्षि कालभीति आनन्द से पुलकित होकर स्तुति करने लगे—

पापस्य कालं भवपङ्ककालं कालस्य कालं कालमार्गस्य कालम्॥
देवं महाकालमहं प्रपद्ये श्रीकालकण्ठं भवकालरूपम् ॥१॥
ईशानवक्त्रं प्रणमामि त्वामहं स्तौति श्रुतिस्सर्वविद्येश्वरं त्वाम्॥
भूतेश्वरस्त्वं प्रपितामहस्त्वं तस्मै नमस्तेऽस्तु महेश्वराय ॥ २॥
यं स्तौति वेदस्तमहं प्रपद्ये तत्पुरुषसंज्ञं शरणं द्वितीयम् ॥
त्वां विद्महे धीमहे तद्धि नस्त्वं प्रदेहि देवेश नमो नमस्ते ॥३॥
अघोरवक्त्रं त्रितयं प्रपद्ये अथर्वजुष्टं तव रूपकाणि ॥
अघोरघोराणि च घोरघोराण्यहं सदा नौमि भूतानि तुभ्यम्॥४॥
चतुर्थवक्त्रं च सदा प्रपद्ये सद्योभिजाताय नमो नमस्ते ॥
भवे भवे भूय भवं भजामि भवोद्भवत्वं शिव तत्र तत्र ॥५॥
नमोऽस्तु ते वामदेवाय ज्येष्ठरुद्राय कालाय कलाविकारिणे ॥
बलंकरायापि बलप्रमाथिने भूतानिहन्त्रे मदनोन्मथाय ॥६॥

त्रियम्बकं त्वां च यजामहे वयं सुपुण्यगन्धं शिवपुष्टिवर्द्धनम् ॥
उर्वारुकम्पक्वमिवोग्र बन्धनाद्रक्षस्व मां त्र्यम्बक मृत्युमार्गात्॥७॥

पापके काल, संसाररूपी कीचड़ के काल, काल के काल, कालमार्ग के काल, शोभा समेत काले कण्ठवाले, संसार के कालरूप, महाकाल देव को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥ मैं ईशान-वक्त्र नामक आपको प्रणाम करता हूँ कि जिनकी वेद स्तुति करते हैं। आप भूतेश्वर हैं, प्रपितामह हैं .ऐसे आप महेश्वरजी को प्रणाम है ॥२॥ जिनकी वेद स्तुति करते हैं, मैं उन द्वितीय तत्पुरुषसंज्ञक आपकी शरण में हूँ। हे देवेश ! मैं आपको जानता हूँ, आपका ध्यान करता हूँ। इसलिये मुझे शरण दीजिये, मेरी रक्षा कीजिये, आपको नमस्कार है ॥ ३ ॥ अथर्व वेद से सेवित तीसरे अघोरवक्त्र की मैं शरण में हूँ। अघोर घोर व घोर से भी घोर प्राणी आपके रूप हैं, ऐसे आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥४॥ मैं चौथे मुख की शरण में हूँ। हे सद्योजात ! आपको नम-स्कार है, नमस्कार है। हे संसार के उत्पन्न करनेवाले शिवजी ! जन्म जन्म में मैं जहाँ जहाँ उत्पन्न होऊँ, वहाँ वहाँ सदा आप को भजूँ ॥ ५ ॥ हे वामदेव नामक ज्येष्ठ रुद्र और काल-संज्ञक ! आपको प्रणाम है। हे कलाओं के विकार संयुत बलका-रक व वलि दैत्य के नाशन करनेवाले ! प्राणियों के नाशक ! कामदेव के विनाशक ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥ सुन्दर पुण्य गन्ध और तीन नयनोंवाले, कल्याण व पुष्टि को बढ़ाने

वाले आपका मैं पूजन करता हूँ। हे उग्र! हे त्रिलोचनजी! पका हुआ फल जैसे बन्धन से छूट जाता है। ऐसे ही मृत्यु के मार्ग से मेरी रक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

उनकी प्रेममयी स्तुति से प्रसन्न होकर परम कारुणिक भगवान् शिव उसी लिंग से तीनों लोकों को प्रकाशित करते हुए प्रकट हुए और बोले कि मुने! इस उत्कृष्ट तीर्थ में तप करने से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। मनुष्य का रूप धारण कर जब मैं तुम्हारे धर्म की परीक्षा लेने आया था। तब धर्म के ऊपर तुम्हारी दृढ़ता देख कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ था। मैंने तुम्हारे लिये यह कुण्ड सब तीर्थों के जल से भर दिया है। मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ, जो वर माँगना हो माँगो। तुम्हारे लिये मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है।

कालभीति ने हाथ जोड़ कर कहा कि हे महाराज! आपके प्रसन्न होने से आज मैं अपने को धन्य मानता हूँ, आज मेरा जीवन सफल हो गया। जितने धर्म और कर्म हैं, वे आपके तुष्ट होने पर ही सफल होते हैं। अन्यथा उनसे व्यर्थ परिश्रम के अतिरिक्त और कोई भी लाभ नहीं होता। हे भगवन्! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं, तो इस लिंग में सदा निवास करें। इस लिंग के निकट जो कर्म किया जाय, उसका अक्षय फल प्राप्त हो। पञ्चमन्त्र के एक लाख जप करने से जो पुण्य प्राप्त होता है, वह इस लिंग के दर्शनमात्र से पूरा हो जाया करे। मुनि ने कहा कि हे महेश्वर! मैं इनकी कृपा से कालमार्ग से बचा हूँ। इस

लिए इनका नाम * महाकाल हो। इस तीर्थ में स्नान कर जो पितरों का तर्पण करे, उसे सब तीर्थों में स्नान करने का पुण्य मिले और उसके पितरों की सद्गति हो।

महादेवजी ने मुनि की सभी प्रार्थनाएँ स्वीकार कर लीं और कहा कि इस तीर्थ में जो दान पुण्य किया जायगा, उसका अक्षय फल होगा। जितेन्द्रिय होकर जो मेरी पूजा करेगा, उसे भुक्ति और मुक्ति अनायास ही प्राप्त होगी। भगवान् शंकर का वचन है:—

"अत्र पुष्पं फलं पूजा नैवेद्यं स्तवनक्रिया।
दानं वान्यच्च यत्किञ्चिदक्षयं तद्भविष्यति ॥१२१॥
जितेन्द्रियश्च यो नित्यं मां लिङ्गेऽत्र प्रपूजयेत्।
भुक्तिमुक्ती न दूरस्थे तस्य नित्यं द्विजोत्तम ॥१२६॥"

(स्कन्दपु० कौ० ख० ३४ अ०)

---

* महाकालेश्वर शिव उज्जैन (Ujjain G. I. P. या B. B. C. I. रेलवे) में हैं। रतलाम से ४९ मील की दूरी पर उज्जैन शहर है।

चौवालीसवाँ रत्न

महर्षि मृकण्ड

प्राचीन काल में महर्षि मृकण्ड नामक एक बड़े तपोनिष्ठ महर्षि थे। वे सब वेदों के पूर्ण ज्ञाता और सम्पूर्ण शास्त्रों के विद्वान् थे, परन्तु किसी कारण वश उनके कोई पुत्र नहीं था। पुत्र के अभाव से वे बड़े चिन्तित रहते थे। क्योंकि सन्तानरहित मनुष्य पितृऋण से उऋण नहीं हो सकता। इसी कारण उसे सद्गति नहीं प्राप्त हो सकती। इसी दुःख से दुःखित होकर पुत्र के लिये उन्होंने तप करने का निश्चय किया।

तपस्या करने के लिये वे अपने आश्रम से हिमालय पर्वत को चले गये और वहाँ कठिन तपस्या करने लगे। वर्षों उन्होंने केवल वायु पीकर समय बिताया। वे कुछ काल तक सिर नीचे और पैर उपर किये तप करते रहे। चिर काल तक साग-पात खाकर शरीर की रक्षा की। इस प्रकार कठिन तप द्वारा भगवान् शङ्कर की आराधना करते हुए बारह वर्ष बीत गए।

इतना कठिन तप करने पर भी जब शिवजी प्रसन्न नहीं हुए, तब पार्वतीजी उनसे प्रार्थनापूर्वक पूछने लगीं कि हे

महाराज ! महर्षि मृकण्ड चिरकाल से पुत्रप्राप्ति के लिये उग्र तप कर रहे हैं; पर आप उनके ऊपर कृपा क्यों नहीं करते ? वे अपने तेज से समस्त पर्वतों को देदीप्यमान कर रहे हैं और सलिलाशयों को सुखाये देते हैं। उनके दुष्कर तप से स्वर्ग-निवासी क्षुभित हो रहे हैं। सूर्य और चन्द्रमा काँप रहे हैं। पृथ्वी और आकाश डगमगा रहे हैं। यदि आप इनके तप का अन्त नहीं करेंगे, तो अकाल ही में प्रलय हो जायगा।"

शिवजी ने पार्वतीजी से कहा कि हे प्रिये ! उनकी कामना यह है कि उनका पुत्र चन्द्रमा के समान मनोहर एवं लोकप्रिय हो, नील कमल के समान उसके नेत्र हों, वह इन्द्र के समान प्रभावशाली हो। वे ऐसा पुत्र पाना चाहते हैं। भला ऐसा पुत्र कभी कहीं मिल सकता है ?

पार्वतीजी ने विनयपूर्वक कहा कि हे महाराज ! यदि ऐसा कठिन तपस्या करनेवाले महामुनि को भी आप अभीष्ट वर न देंगे तो किसको देंगे। आप तप के फलदाता कहे जाते हैं, आपको तो इस यश की रक्षा करनी चाहिये। यदि आप इन्हें इनकी अभीष्ट वस्तु नहीं देंगे, तो आपकी शरण में कौन आयेगा। इस तपस्वी ब्राह्मण ने अपना शरीर सुखा दिया है और तप के प्रभाव से अपने पाप भी जला दिये हैं। उसे यथेच्छित पुत्र अवश्य मिलना चाहिये। इसके लिये मैं आपसे आग्रहपूर्वक प्रार्थना करती हूँ।

पार्वतीजी ने जब इस प्रकार प्रार्थना की, तो शिवजी पार्व-

तीजी को अपने साथ लेकर एक ब्राह्मण का रूप धारण कर मृकण्ड ऋषि के समीप पहुँचे और उन्हें महाकाल वन मे तपस्या करने का उपदेश दिया । मृकण्डमुनि आशा-पूर्ण हृदय से *महाकाल वन को गये और वहाँ सब पापों के हरनेवाले तथा पुत्र के देनेवाले एक शिवलिंग को देखा । उसी लिंग के समीप मृकण्ड मुनिने कठिन तप करना प्रारम्भ किया । कुछ काल के अनन्तर उनके तप से प्रसन्न होकर भगवान् आशुतोष उमा सहित उसी लिंग से प्रकट हुए और कहने लगे कि हे महामुने ! मैं शिव हूँ । तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न होकर वर देने आया हूँ । मैं जानता हूँ कि तुम अयोनिज पुत्र चाहते हो । इसलिये मैं तुम्हें वर देता हूँ कि तुम्हारे अयोनिज पुत्र हो और वह जन्मकाल ही से ऐश्वर्य तथा ज्ञानसम्पन्न हो । उसकी आयु बहुत बड़ी हो और वह सर्वज्ञ विद्वान् हो ।

शिवजी के मुख से ऐसे वचन निकलते ही मृकण्ड के सामने एक पुत्र का प्रादुर्भाव हुआ और उसका नाम मार्कण्डेय रक्खा गया । मार्कण्डेयजी उत्पन्न होते हो शिवजी पार्वती और अपने पिता को प्रणाम करके तप करने बैठ गये और भग-वान् शंकर की आराधना करने लगे । इस प्रकार तप करके मार्कण्डेयजी ने भी शिवजी से वर पाया । मृकण्ड और मार्क-

---

* महाकालवन अवन्तिक (उज्जैन) में है ।

एडेय द्वारा पूजित उस शिवलिंग का नाम 'मार्कंएडेयेश्वर' पड़ गया। सर्वगुणसम्पन्न परम तपोनिधि और सर्वविद्याविशारद पुत्र पाकर मृकण्ड परम सन्तुष्ट हुए और मार्कंएडेयजी भी अनेक वर पाकर उसी महाकाल वन में तप करने लगे।

इन मार्कंएडेयेश्वर के दर्शन करने से मनुष्यों को परम आनन्ददायिनी गति मिलती है। कोई २ तो साक्षात् शिवरूप हो जाते हैं। कोई गणनायक बन जाते और कोई सिद्ध हो जाते हैं। जो भक्त सुन्दर सुगन्धित पुष्पों से इनकी अभ्यर्चना करते, वे सब दुःखों से मुक्त होकर दीर्घायु का आनन्द लूटते हैं। स्कन्दपुराण में मार्कण्डेयेश्वर के पूजन और दर्शन का बड़ा माहात्म्य लिखा है:—

त्र्यक्षा गणेश्वराः सिद्धाः सिद्धगन्धर्वसेविताः ।
ते भविष्यन्ति सततं मम भक्ताश्च ये नराः ॥ ४१ ॥
ये मां सम्पूजयिष्यन्ति हृद्यैः पुष्पैः सुगन्धिभिः ।
दीर्घायुषो भविष्यन्ति ते सदा दुःखवर्जिताः ॥ ४२ ॥
(आवन्त्यखण्ड – अ० च० चि० मा० ३६ अ०)

छहरै शिर पै छवि गंग इतै, सु उतै तिलरी नथुनी लहरै ।
फहरै गजचर्म कपाल इतै, सु उतै पट विद्युत सो फहरै ॥
थहरै अंग गौर दयाल इतै, सु उतै रंग केशरि को झहरै ।
विहरै यह रूप शिवा शिव को जन शंकर के हिय में ठहरै ॥

पैंतालीसवाँ रत्न

प्रसिद्ध ऋषि सर्वणि

प्राचीन काल में व्याघ्रपाद के पुत्र शिवभक्त महात्मा 'उपमन्यु' थे। उन्हीं के उस दिव्य आश्रम में, जो ब्राह्मी शोभा से सुशोभित, सुर-गन्धर्व-सुसेवित, विविध पुष्प-गुल्म-लतादिकों से आच्छादित, उत्तमोत्तम फल तथा पुष्पों से अलङ्कृत, पक्षियों से भरे हुए, विविध विहंगों के कलरवों से व्याप्त, कहीं कदलीवन कहीं बदरीवन और कहीं रसालवन में रसोन्मत्त भौंरों के गुञ्जार से ध्वनित, स्थान २ पर भस्म से ढकी हुई अग्नि से विभूषित था। अनेक हवन कुण्डोंवाले उस आश्रम में सहज शत्रुता का परित्याग करके गो-व्याघ्र एक साथ चर रहे थे, वहाँ का त्रिविध समीर प्राणीमात्र को सुख दे रहा था, झरनों के कल-कल निनाद ऋषियों के मन को मुग्ध कर रहे थे, हिरणगण सुख से हरी २ घास चरते थे, दैहिक, दैविक, भौतिक इन तीन तापों का लेशमात्र भी प्रसार नहीं था, वहाँ पवित्रसलिला त्रिपथगामिनी भगवती भागीरथी की निर्मल धारा वह रही थी और उसके मनोहर तट पर ऋषि लोग नित्यकर्म्म करते हुए भगवान् शंकर के ध्यान में मग्न रहते थे। ऐसे विमल और शान्त तपोवन में सर्वणि मुनि ने ६०० (छः सौ) वर्षों तक भगवान् महादेव के श्रीचरणों का ध्यान किया।

जिससे करुणावरुणालय आशुतोष भगवान् शिवजी ने प्रत्यक्ष होकर मुनि को वरदान दिया कि "हे मुने! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम भूलोक में प्रसिद्ध ग्रन्थकार और अजर-अमर होओगे।" तब से सवर्णि ऋषि 'अमर' हो गये। क्योंकि—

"तमाह भगवान् रुद्रः साक्षात्तुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
ग्रन्थकृल्लोकविख्यातो भवितास्यजराऽमरः ॥"

(म० भा० अनु० पर्व १४ अ०)

छियालीसवाँ रत्न

(शिव-भक्त उपमन्यु)

कृतयुग में एक महायशस्वी वेद और वेदांगों में पारङ्गत व्याघ्रपाद नामक ऋषि थे। इनकी मृत्यु के उपरान्त एक समय उनके पुत्र उपमन्यु और धौम्य एक साथ खेलते २ मुनियों के एक आश्रम में पहुँच गये। वहाँ एक गौ दुही जाती थी। मुनियों ने उन बालकों को अपने यहाँ से दूध पीने को दिया। अपने घर आकर बालस्वभाव वश उन्होंने अपनी माता से कहा—हे मातः! मुझे दूध पीने को दे। दूध तो था ही नहीं, बालकों के आग्रह करने पर ऋषिपत्नी ने चावल का आटा पानी में घोल कर पीने को दे दिया। लेकिन बालक दूध के

स्वाद को जानते थे। इस कारण अपनी माता से उन्होंने कहा कि तू ने मुझे जो वस्तु पीने को दी है, वह दूध नहीं है। उन ऋषिकुमार की माता ने दुःख और शोक से कातर होकर कहा- हे वत्स ! परमात्मा के ध्यान में मग्न रहनेवाले मुनियों के यहाँ भला दूध कहाँ से आ सकता है। बालखिल्यों से सेवित जो ऋषि दिव्य नदी के तट पर रहते हैं, जो मुनि वन में या पर्वतों पर निवास करते हैं, वे पवित्र फल-फूल का आहार करते हुए समय बिताते हैं, उन के यहाँ दुग्ध कहाँ से आयेगा ? हे पुत्र ! इस वन में तो सुरभी का वंश है ही नहीं, फिर दूध कैसे होगा ?

हम लोग नदियों के तट पर, गुफाओं में, पर्वतों तथा तीर्थों में रह कर सदा तप करते रहते हैं। एकमात्र शिव हमारे आश्रय हैं (शिवो नः परमा गतिः ॥ २६ ॥) हे वत्स ! वर देनेवाले, कूटस्थ, अविकारी, विरूपाक्ष को प्रसन्न किये विना दूध-भात और सुखकारक वस्त्र नहीं मिल सकता। *अतः हे वत्स ! तुम श्रद्धा रखकर शिवजी की शरण में जाओ। हे पुत्र ! उनकी कृपा से तुम्हारी सारी कामनायें सफल होजावेंगी†। इस

---

* अप्रसाद्य विरूपाक्षं वरदं स्थाणुमव्ययम् ॥
कुतः क्षीरोदनं वत्स सुखानि वसनानि च ॥ २७ ॥

† तं प्रपद्य सदा वत्स सर्वभावेन शंकरम् ॥
तत्प्रसादाच्च कामेभ्यः फलं प्राप्स्यसि पुत्रक ॥ २९ ॥

तरह अपनी माता की बात सुनकर उपमन्यु ने माता के सन्मुख दोनों हाथ जोड़ कर पूछा—हे मातः! महादेवजी कौन हैं, किस प्रकार प्रसन्न होते हैं? वे शिवजी कहाँ रहते हैं? और मुझे उनके दर्शन किस प्रकार मिलेंगे? उनका स्वरूप कैसा है? हे माँ! वे किस प्रकार प्रसन्न होकर मुझे दर्शन देंगे?

इस प्रकार उपमन्यु का सरलतायुक्त वचन सुनकर माता ने उनका मस्तक सूँघा और नेत्रों में आँसू भर, दीन बनकर बोली—जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे पुरुष महादेवजी को बड़ी कठिनाई से जान सकते हैं। शास्त्रज्ञान होने पर भी वे मन से धारण नहीं किये जा सकते, कदाचित् मन में उनको धारण भी किया जाता तो लय, विक्षेप आदि विघ्नसमूह धारण करने में बाधा करते हैं। विघ्न न पड़ने पर भी उनका स्वरूप कठिनता से ग्रहण किया जासकता और जाना जासकता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष उनके अनेक रूप बतलाते हैं, उनकी प्रसन्नता भी नाना प्रकार की है। शिवजी के शुभ चरित्र को यथार्थ रीति से भला कौन जान सकता है। वह महेश्वर सब प्राणियों के *हृदय में रहते हैं। वे विश्वरूप हैं और भक्तों पर दया करके कभी कभी दर्शन दे दिया करते हैं। मुनियों के मुख से मैंने भगवान् शिव का शुभ चरित्र सुना है। वे विष्णु, इन्द्र,

---

* हृदिस्थः सर्वभूतानां विश्वरूपो महेश्वरः ॥
भक्तानामनुकंपार्थं दर्शनं च यथा श्रुतम् ॥ ३७ ॥

रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार और विश्वेदेव आदि देवताओं के शरीर धारण किया करते हैं,† शिवजी प्राणीमात्र में स्थित हैं, उन शंकर का शरीर भस्म के समान श्वेत वर्ण का है। वे अपने मस्तक में अर्धचन्द्र को भूषण के समान धारण किये रहते हैं। वे सब लोकों के अन्तरात्मास्वरूप हैं, सर्वत्र व्यापक हैं, सब शास्त्रों और कर्मों के वक्ता हैं। वे भगवान् सब देहधारियों के हृदय में निवास करते हैं (सर्वत्र भगवान् ज्ञेयो हृदिस्थः सर्वदेहिनाम्)। वे भगवान् शिवभक्तों पर प्रसन्न होते, दुष्टों पर कोप करते और अनेक दिव्यास्त्र धारण करते हैं। वे सर्प के यज्ञोपवीत पहिनते हैं।

मन को हरनेवाले शिवजी यज्ञ की वेदी में, यज्ञ के स्तंभ में, गोष्ठ में और अग्नि में विशेषतया निवास करते हैं।

वे महादेवजी निष्कल, माया के ईश्वर, अनेक कार्य के स्वरूप हिरण्यगर्भरूप, आदि अन्त और जन्मरहित हैं। इनके स्वरूप, को यथार्थ रीति से कौन जान सकता है। (अनाद्यंतमजस्या-न्तं वेत्स्यते कोऽस्य तत्त्वतः ॥ ६३ ॥) वे प्राणरूप, मनोरूप और योग के आत्मारूप, मनोरूप, एवं जीवरूप हैं। योगरूप, ध्यान-

---

† ब्रह्माविष्णुसुरेन्द्राणां रुद्रादित्याश्विनामपि ॥
विश्वेषामपि देवानां वपुर्धारयते भवः ॥ १४ ॥
(म० भा० अनु० पर्व अ० १४)

रूप, परमात्मारूप और महेश्वर हैं। उनके स्वरूप का ज्ञान केवल भक्ति से हो सकता है (ध्यानतः परमात्मा च भावग्राह्यो महेश्वरः ॥ ६४ ॥) हे पुत्र ! तू उनका भक्त हो जा, उनमें मन लगा, सदा उनमें निष्ठा रख. उनमें परायण रहकर महादेव का भजन कर, ऐसा करने से तू इच्छित वर पावेगा।

इस तरह माता का उपदेश सुनकर शिवजी में उपमन्यु की अविचल भक्ति हो गयी।

तदनन्तर उपमन्यु ने एक दिव्य सहस्र वर्ष तक दाहिने अँगूठे के अग्रभाग पर खड़े होकर तपस्या करते हुए भगवान् शंकर को सन्तुष्ट किया। इस तरह तप करने पर शिवजी प्रसन्न हो इन्द्र के स्वरूप को धारण किये, सब देवताओं को साथ लिये, और अपने तेज से देदीप्यमान होते हुए उपमन्युके पास आकर बोले—हे ब्राह्मण ! मैं तुझ पर परम प्रसन्न हूँ, अतः तेरी जो इच्छा हो, उसके लिये वर माँग ले।

उपमन्यु बोले—हे देवराज ! मैं तुम से कुछ नहीं चाहता। दूसरे किसी देवता से भी वर पाने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं केवल महादेवजी से वर पाना चाहता हूँ। और आप से सत्य २ कहता हूँ कि पशुपति के वचन से मैं कीड़ा अथवा अनेक शाखा वाला वृक्ष बन जाऊँ वह मुझे पसन्द है; परन्तु पशुपति के अतिरिक्त और किसी देवता से मुझे तीनों लोकों को विभूति मिलती हो, तो वह भी प्रिय नहीं हो सकती। शिवजी

के चरणों की बन्दना करने में प्रीति रखनेवाला मैं चाहे चाण्डाल योनि में उत्पन्न हो जाऊँ; परन्तु शिवका अभक्त होकर उत्पन्न होना मुझे पसन्द नहीं है। यदि मनुष्य वायु और जल का भक्षण करके सुर-असुर के गुरु विश्वेश्वर की भक्ति न करे, तो उस मनुष्य के दुःख का नाश नहीं हो सकता*। जो क्षण भर भी श्रीहर के चरणकमलों का वियोग नहीं सह सकता उससे दूसरे धर्मवाली बातें कहना व्यर्थ है। इस कुटिल युग में उत्पन्न होने पर मनुष्य को अपनी बुद्धि श्रीशिवजी के चरणों में लगानी चाहिये। श्रीशिवजी के चरणकमलरूपी रसायन का पान करने से मनुष्य को संसार अर्थात् जन्म-मरण का भय नहीं रहजाता। शंकर के अनुग्रह बिना कोई पुरुष एक दिन, आधा दिन, मुहूर्त, क्षण, अथवा एक लव भी श्रीशंकर की भक्ति नहीं कर सकता। शंकर जी की आज्ञा से चाहे मैं तुच्छ से भी तुच्छ हो जाऊँ; परन्तु हे इन्द्र! मैं तुम्हारे दिये हुए तीन लोकों को भी नहीं चाहता। शिवजी को छोड़ कर और किसी देवता के दिये राज्य को लेना भी मैं अच्छा नहीं समझता। मुझे स्वर्ग की इच्छा नहीं है. मैं तो हरका दास होना चाहता हूँ (हरस्य दासत्वमहं वृणोमि) ॥

चन्द्रमारूपी श्वेत और निर्मल मुकट को धारण करने वाले, जीवों के स्वामी शंकरजी जब तक प्रसन्न न होंगे तब तक

---

* अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं जगति पुमानिह को लभेत शान्तिम् ॥९०॥

मैं सैकड़ों दुःखों को सहूँगा। सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के समान कान्तिमान्, तीनों भुवनों के सारभूत, जिनके सिवाय और कोई भी वस्तु सार नहीं है, सब के आदि पुरुष एक और मृत्युरहित रुद्र को प्रसन्न किये बिना जगत् में कोई पुरुष शान्ति नहीं पा सकता। यदि मेरे दोषों के कारण मेरा जन्म फिर हो तो उस जन्म में भी श्रीशिवजी में मेरी अक्षय भक्ति बनी रहे।

इन्द्र ने कहा—तू शिव के अतिरिक्त और किसी से वर पाना नहीं चाहता सो तो ठीक है; किन्तु शिव के अस्तित्व में कोई भी युक्ति नहीं दिखायी देती। यदि तू कहे कि शंकर कारण के भी कारण हैं, तो इसका प्रमाण क्या है?

उपमन्यु ने कहा—जैसे एक वृक्ष की डालियाँ, तना, शाखा, पत्ते, पुष्प, फल और बीज यह सब शक्ति का विकास है। वह मृत्तिका एक है, नित्य है, सब प्रकार के विषयों से रहित है। वह मृत्तिका बीजशक्ति के स्पर्श होने से अनेक रूपों को धारण किया करती है। इसी प्रकार वह अव्यक्त, आदि और बीजरूप है। यह सब जिसमें लीन होता है उस तत्त्वका नाम परम शिव है, वह कारण का भी कारण है। इस बात को मानने से कोई इनकार नहीं कर सकता। वह माया से परे हैं, परम ज्योतिः स्वरूप हैं।

हे इन्द्र! उनके द्वारा यदि मेरा मरण भी हो जाय तो ठीक है, हे दैत्य को मारनेवाले इन्द्र! तेरी इच्छा में आवे, तो तू चला

जा, इच्छा हो तो खड़ा रह। मैं तो केवल महेश्वर से ही वर पाना चाहता हूँ। सम्पूर्ण कामनाओं को देनेवाले किसी और देवता को मैं नहीं चाहता।

इस प्रकार इन्द्र से कहकर उपमन्यु विचारने लगा कि शंकर मुझ पर प्रसन्न क्यों नहीं होते हैं। इस प्रकार विचार करते २ दुःख से उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं ।

इतने में उन्होंने उस ऐरावत हाथी को हंस, कुन्द, और चन्द्रमा के समान श्वेत कान्तिवाले वृषभ का रूप धारण करते हुए देखा। ऐसे वृषभ पर भगवान् शिव उमा के साथ बैठे हुए थे। उस समय महादेवजी पूर्णिमा के चन्द्रमा के सदृश शोभा पा रहे थे। शिवजी के तेज से सहस्रों सूर्य के समान दिशायें व्याप्त हो गयीं। शिवजी के आते ही सब दिशाओं में शान्ति फैल गयी। उपमन्यु ने भगवान् का दर्शन किया। उस समय शिवजी अनेक प्रकार के आभूषण पहने, श्वेत वस्त्र और श्वेत पुष्पों की माला धारण किये, श्वेत चन्दन लगाये, श्वेत ध्वजा, एवं श्वेत यज्ञो- पवीत धारण किये, अपने समान पराक्रमशाली दिव्य गणों से घिरे हुए, श्वेत बालचन्द्र युक्त मुकुट को धारण किये, गौर शरीर पर सुवर्ण के कमलों से गुँथी और रत्नों से जड़ी हुई माला से शोभायमान थे। शिवजी के दाहिने ओर लोकों के पितामह ब्रह्मा- जी हंसों के दिव्य विमान पर बैठे थे। दूसरी ओर शङ्ख, चक्र और गदा को धारण किये गरुड़ पर चढ़े हुए नारायण थे और मयूर पर बैठे स्वामिकार्तिक हाथ में घण्टे को लिये थे। पार्वती जी के

समीप, शंकर जी के सामने दूसरे शंकर की तरह *नन्दी शूल को टेककर खड़े हुए थे। स्वायम्भुव आदि मनु, भृगु आदि ऋषि, इन्द्र आदि देवता भगवान् शंकर को प्रणाम करके दिव्य स्तोत्रों द्वारा स्तुति कर रहे थे। ब्रह्माजी रथंतर नामक सामका गान कर शिवजी की स्तुति में मग्न थे। नारायण जेष्ठ सामका गायन कर महादेवजी की स्तुति कर रहे थे। उस समय ब्रह्मा, नारायण, और इन्द्र ये तीनों महात्मा तीन अग्नि के समान शोभा पा रहे थे। उनके मध्य में विराजमान शिवजी शरद ऋतु के बादलों से निकले हुए सूर्य के समान शोभित हो रहे थे। इस प्रकार दर्शन करके उपमन्यु भगवान् की स्तुति करते हुए कहने लगे † कि हे महादेव ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे देवाधिदेव ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। शक्र के रूप और वेष को धारण करने वाले, हाथ में वज्र लिये, पीले और रक्त वर्णवाले देवदेव को मैं नमस्कार करता हूँ। पवन के समान वेगवाले, सुरों के राजा, मुनियों के राजा और महेन्द्ररूप आपको मैं प्रणाम करता हूँ।

जिनकी ध्वजा में वृषभका चिह्न है, ऐसे शंकर और पार्वती

---

* नन्दी बन्दर के आकारवाले चार भुजा धारी और दीव्य तेजवाले हैं।

† नमो देवादिदेवाय महादेवाय ते नमः ॥ ७ ॥
शक्ररूपाय शक्राय शक्रवेपधराय च।
नमस्ते वज्रहस्ताय पिङ्गलावारुणाय च ॥ ८ ॥
नमः पवनवेगाय नमो देवाय वै नमः।
सुरेन्द्राय, मुनीन्द्राय, महेन्द्राय नमोस्तु ते ॥ ९ ॥

ने प्रसन्न होकर पास में खड़े देवताओं से कहा—हे देवताओं ! तुम सब मुझमें महात्मा उपमन्यु की भक्ति देखो । इस तरह भगवान् के वचन सुनकर देवतागण प्रणाम कर बोले—हे देव-देव ! हे लोकनाथ ! हे भगवन् ! हे उमापते !यह ब्राह्मण आप से सब कामनाओं को पा ले, यही हमलोगों की इच्छा है । इस प्रकार की बातें सुनकर भगवान् शंकर हँसते हुए बोले-हे वत्स ! हे मुनिपुङ्गव उपमन्यु ! मैं तेरे पर परम प्रसन्न हूँ । तू मेरी तरफ देख ! हे विप्रर्षि ! मैंने तेरी परीक्षा करके देख लिया, तू मेरा दृढ़ भक्त है ।*

इस प्रकार भगवान्‌का कृपायुक्त वचन सुनकर उपमन्यु हर्ष से युक्त नेत्रों में प्रेम के आँसू भरे रोमाञ्चित शरीर हो (हर्षादश्रूण्यवर्तन्त रोमहर्षस्त्वजायत ॥ १४ ॥) घुटनों को पृथ्वी में झुका झुकाकर बारम्बार प्रणाम किया और हर्ष से गद्गद् होकर बोला—हे देव ! आज मेरा जन्म सफल हुआ है क्योंकि देवताओं और दानवों के गुरु आप मेरे सामने विराजमान हैं । देवता भी जिनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकते, ऐसे देव का मुझे साक्षात् दर्शन हुआ है । तब मुझसे अधिक भाग्यशाली और कौन होगा ? हे प्रभो ! यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं और मुझपर प्रसन्न हुए हैं † तो हे देव ! हे सुरेश्वर ! मुझे यही वर

---

* दृढ़भक्तोऽसि विप्रर्षे मया जिज्ञासितो ह्यसि ॥ ३९ ॥

† यदि देयो वरो मह्यं यदि तुष्टोऽसि मे प्रभो ॥
भक्तिर्भवतु मे नित्यं त्वयि देव सुरेश्वर ॥ ५२ ॥

दीजिए कि आपमें सदा मेरी भक्ति बनी रहे।

इस प्रकार उपयन्यु का वचन सुनकर भगवान् बोले—हे उपमन्यु ! तू जरा और मरण से रहित होगा, तेरा दुःख दूर हो जायगा और तू यशस्वी, तेजस्वी और दिव्य ज्ञानवाला होगा। मेरे प्रसाद से तू ऐसी योग्यतासम्पन्न होगा कि सब ऋषि तेरे पास आया करेंगे। तू शीलसम्पन्न, गुणसम्पन्न, सर्वज्ञ और सुन्दर रूपवाला होगा, तू अग्नि के समान तेजस्वी होगा, तू चाहेगा तहाँ तेरे सामने क्षीरसागर आ जाया करेगा। तू एक कल्प तक अमृत के साथ मिले हुए दूध भात को अपने भाइयों के साथ २ खाता रहेगा। फिर, तू मेरे पास आवेगा। तेरे बहुत से बान्धव, तेरा कुल और गोत्र अक्षय होगा। हे ब्राह्मण ! मुझमें तेरी अचल भक्ति बनी रहेगी। हे विप्र ! जब जब मेरा स्मरण करेगा, तब मैं आकर दर्शन दूँगा। करोड़ों सूर्यों के समान दीप्तिशाली भगवान् शिव इस प्रकार वरदान देकर अन्तर्धान हो गये।

तिष्ठ वत्स यथाकामं नोत्कंठां च करिष्यसि ।
स्मृतस्त्वया पुनर्विप्र दास्यामि तव दर्शनम् ॥ ६२ ॥
एवमुक्त्वा स भगवान् सूर्यकोटिसमप्रभः ।
ईशानः स रान् दत्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ ६३ ॥

(महा० भा० अनु० अ० १४)

सैंतालीसवाँ रत्न

श्वेत मुनि

प्राचीन काल में श्वेत नाम के एक बड़े तपस्वी मुनि थे। उनकी आयु समाप्त हो चुकी थी और मरणासन्न थे। इस लिये वे बहुत दुःखित हुए। अधिक आयु पाने के लिए वे बहुत उत्कण्ठित थे। अतः भगवान् मृत्युञ्जय की आराधना करने लगे। श्वेत मुनि एक पर्वत की कन्दरा में निराहार रह कर शास्त्रोक्त विधि से शंकर भगवान् की पूजा करते और अनेक प्रकार की स्तुति करते थे। पवित्र रुद्राध्याय का पाठ भी भगवान् शिवजी को सुनाते थे।

परन्तु जब उनके दिन पूरे हो गये, तो महाकराल काल उनके सामने आ धमका। श्वेत मुनि को विश्वास था कि मैं तो काल के भी काल की उपासना कर रहा हूँ, काल मेरा क्या बिगाड़ सकता है। अतः वे और भी अनन्यमनस्कता के साथ महामृत्युञ्जय मन्त्र से त्र्यम्बक भगवान् की पूजा करने लगे।

काल भला क्यों मानने लगा। वह कर्कश स्वर में बोला कि हे श्वेत ! मेरे साथ यमलोक को चलो। इस पूजा पाठ से कुछ नहीं हो सकता। मेरे फन्दे में पड़ने पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवों में से कोई भी नहीं बचा सकता। हे मुने ! अब तुम्हारी आयु समाप्त हो चुकी है। इस लिए

तुम्हें मेरे साथ अवश्य चलना होगा।

काल के ऐसे भयंकर वचन सुन कर भगवान् रुद्रका स्मरण करते हुए श्वेत मुनि कहने लगे कि हे काल! तुम मेरा क्या कर सकते हो, मेरे तो स्वामी रुद्र भगवान् हैं। वे इसी लिंग में विराजमान हैं और मेरे जैसे भक्तों की रक्षा में सदा तत्पर रहते हैं। उनके भक्तों की कभी कुछ हानि नहीं हो सकती। इस लिये हे काल! तुम मेरे पास से चले जाओ।

काल को श्वेत मुनि का कथन सुन कर बड़ा क्रोध आया और वह भयावनी सूरत बना कर सिंहनाद करता हुआ मुनि के अत्यन्त सन्निकट आ गया। समीप आते ही उसने मुनि के गले में फन्दा डाल दिया और कहने लगा कि हे मुने! अब तो तुम मेरे फन्दे में आ गए। अब तुम्हें बचानेवाले रुद्र कहाँ हैं? उनकी भक्ति का तुम्हें क्या फल मिला? तुम तो कहते थे कि रुद्र इस लिंग में हैं। अब तुम्हारे रुद्र चुप चाप क्यों बैठे हैं, तुम को बचाते क्यों नहीं?

इस प्रकार महाकाल बक ही रहा था कि उसी समय भगवान् शंकर उसी लिंग से उमासमेत प्रकट हुए। श्वेत मुनि उनके दर्शन पाते ही स्तुति करने लगे और काल उन अन्तकान्तक को देखते ही न जाने कहाँ भाग गया। भगवान् शंकर ने श्वेत मुनि को वर दिया कि तुम चिर काल तक इस संसार के अनेक सुख भोग कर अन्त में शिवलोक को प्राप्त होओगे। काल तुमको कभी भयभीत न कर सकेगा और तुम्हारी इच्छाधीन मृत्यु होगी।

उस समय आकाश से सुन्दर सुगन्धित पुष्पों की वर्षा होने लगी और देवों की दुन्दुभियाँ बजने लगीं। भगवान् मृत्युञ्जय उन्हें चिरायु प्रदान कर कैलास को चले गए और श्वेत मुनि अपनी कामनापूर्ति से परम सन्तुष्ट हुए।

मृत्युञ्जय महादेव की आराधना से भुक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त होती हैं। इन की अर्चना से मनुष्य के हृदय से शोक दूर हो जाता है। लिंगपुराण में इनकी आराधना का बड़ा माहात्म्य लिखा है:—

तस्मान्मृत्युञ्जयं चैव भक्त्या सम्पूजय द्विजाः।
भुक्तिदं मुक्तिदं चैव सर्वेषामपि शङ्करम् ॥ २८ ॥
बहुना किं प्रलापेन संन्यस्याभ्यर्च्य वै भवम्।
भक्त्या चपरया तस्मिन् विशोका वै भविष्यथ ॥ २९ ॥

(लिंगपुराण पूर्वार्ध अ० ३०)

अड़तालीसवाँ रत्न

शिलाद मुनि

शिलाद नाम के स्वकर्मधर्मनिष्ठ ब्राह्मण एक बड़े तपस्वी थे। पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार वे अन्धे हो गये थे और उनके कोई सन्तति नहीं थी। सन्तति प्राप्त करने के लिये उन्होंने

कठिन तप करना प्रारम्भ कर दिया। चिरकाल तक निराहार रह कर अनेक नियम-संयम के साथ वे देवराज इन्द्र की उपासना करते रहे। उनकी उपासना से प्रसन्न होकर देवराज प्रकट हुए और शिलाद मुनि से प्रसन्नतापूर्वक बोले कि हे महर्षे! तुम किस कामना से ऐसा तीव्र तप कर रहे हो? मैं तुम्हारी तपस्या से बहुत सन्तुष्ट हूँ। यदि कोई वर माँगना हो तो माँगो।

इन्द्र के ऐसे मधुर वचन सुन कर शिलाद मुनि बहुत आनन्दित हुए और हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक बोले कि हे देवराज! मैं पुत्रहीन हूँ। शास्त्र में कहा गया है कि पुत्रहीन मनुष्य को सद्गति नहीं मिलती। इस लिये हे कृपानिधे! मुझे कुल का उद्धार करनेवाला पुत्र दीजिये। परन्तु वह पुत्र अयोनिज और अमर होना चाहिये। ऐसा पुत्र मैं नहीं चाहता कि जिसके लिये मुझे या मेरे घरवालों को रोना पड़े।

इन्द्रदेव ने उत्तर दिया कि अयोनिज और मृत्युहीन पुत्र तो मैं नहीं दे सकता। संसार में ऐसा कोई नहीं है जो जरा-मरण से रहित हो। पितामह ब्रह्माजी स्वयं मृत्युहीन नहीं हैं। एक दिन उनका भी समय पूरा हो जायगा और उन्हें अपने शरीर का त्याग करना पड़ेगा। अयोनिज और मृत्युहीन पुत्र देने की मुझ में शक्ति है ही नहीं, ब्रह्मा और विष्णु में भी यह सामर्थ्य नहीं है; किन्तु भगवान् रुद्र चाहें तो ऐसा पुत्र दे सकते हैं। यदि तुम अनन्य मन से उनकी आराधना करो तो तुम्हारी

कामना पूरी हो सकती है। इस लिये तुम उन्हींको प्रसन्न कर अभीष्ट वर प्राप्त करो।

शिलाद से ऐसे वचन कह महेन्द्र ऐरावत हाथी पर सवार होकर सब देवों को अपने साथ लिये इन्द्रलोक को चले गये। पुण्यशील शिलाद इन्द्रदेव के चले जाने पर अपनी तपस्या से महादेवजी को प्रसन्न करने लगे। उन्होंने अन्न का भक्षण करना, एवं जल का पीना तक छोड़ दिया और एकाग्र चित्त से भगवान् शिव की आराधना करने लगे। तप करते २ कई हजार वर्ष वीत गये। उनके शरीर पर बामी जम गयी। और भिन्न भिन्न प्रकार के लाखों कीट उनके शरीर पर फिरने लगे। उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया; न तो उसमें रुधिर रह गया और न मांस ही। उनके शरीर में केवल हड्डियाँ भर रह गयीं, जिनसे वे दीवाल के समान दिखायी देने लगे।

भगवान् शङ्कर उनके इस कठिन तप से अत्यन्त प्रसन्न हुए और पार्वतीजी को साथ लेकर अपने सब गणों समेत शिलाद को दर्शन देने के लिये आये। आते ही उन्होंने शिलाद के ऊपर हाथ फेरा। उनके हाथ फेरते ही मुनि की सब थकावट दूर हो गयी और उनका चित्त शान्त एवं प्रसन्न हो गया। वे हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक स्तुति करने लगे। उनकी स्तुति से भगवान् को और भी अधिक प्रसन्नता हुई और वे कहने लगे कि हे मुने! अब आप अपनी तपस्या समाप्त

कीजिये । मैं आपको ऐसा पुत्र दूँगा, जो सब शास्त्रों का वेत्ता और परम ज्ञानी होगा ।

शिलाद मुनि ने विनय करते हुए कहा कि हे देवदेव ! हे शङ्कर ! आपने मेरे ऊपर परम अनुग्रह किया है । मुझे तो आप की दया का ही भरोसा है । हे भगवन् ! मेरी प्रार्थना यही है कि मुझे अयोनिज एवं मृत्युहीन पुत्र मिले ।

भगवान् शङ्कर ने कहा कि हे विप्र ! आपकी कामना पूरी होगी और वैसा ही पुत्र होगा जैसा कि आप चाहते हैं । प्राचीन काल में ब्रह्माजी ने तथा अन्य देवों ने तप करके मुझसे प्रार्थना की थी कि मैं स्वयं भूलोक में अवतार लूँ और मैंने उनकी वह प्रार्थना स्वीकार भी कर ली थी । उसी की पूर्ति के लिये मैं स्वयं आपका अयोनिज पुत्र बनूँगा और आप मेरे पिता बनेंगे ।

इतना कह कर शिवजी अन्तर्धान हो गये और शिलाद वह अनुत्तम वर पाकर परम प्रसन्न हुए । तदनन्तर उन्होंने बड़े समारोह के साथ यज्ञ करना प्रारम्भ किया और उस यज्ञ के प्राङ्गण से युगान्त की अग्नि के समान तेजस्वी भगवान् शङ्कर उत्पन्न हुए । उनके उत्पन्न होते ही पुष्करावर्त आदि मेघ बरसने लगे । सिद्ध, साध्य, किन्नर और गन्धर्व आकाश से मधुर गान सुनाने लगे और देवराज इन्द्र ने पुष्पों की वृष्टि की ।

भगवान् का बालरूप देख कर सभी देवता और मनुष्य

मोहित हो गये। जन्म के साथ ही उनके मस्तक पर जटा का मुकुट विराजमान था। उनके तीन आँखें और चार भुजायें थीं। त्रिशूल से उनका तेज और भी अधिक बढ़ रहा था। उनके तेज से समस्त दिशायें देदीप्यमान हो गयीं।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि देवता और वसिष्ठ आदि मुनि उनकी स्तुति करने लगे, अप्सराएँ नृत्य करने लगीं, सब दिक्पाल उनके चारों ओर खड़े होकर विनय करने लगे और देवियाँ स्नेहपूर्वक उनका आलिङ्गन करती हुई प्यार करने लगीं।

शिलाद मुनि ने यह समारोह देखा तो उन्हें बड़ा विस्मय हुआ और वे प्रणाम कर स्तुति करने लगे। उन्होंने प्रसन्न होकर गम्भीर स्वर में कहा कि हे भगवन्! आपने मेरा पुत्र बनना स्वीकार किया। इस लिये मैं कृत्यकृत्य हो गया। आप त्रिलोकी की रक्षा करते हैं, विपत्तिसागर में मग्न भक्तों का उद्धार करते हैं और अशरण के शरण हैं। आप ऐसे महनीय पुत्र को पाकर मेरी सब चिन्तायें दूर हो गयीं। अब मुझे किसी प्रकार का भय नहीं रह गया। आपने मुझ को आनन्दित किया है इस लिए आपका नाम नन्दी होगा। अब मेरी यह प्रार्थना है कि आप मुझे इसी प्रकार आनन्दित करते रहें। मेरे कुल में आप के अवतार लेने से मेरी माता और मेरे पिता रुद्रलोक को चले गये और पितामह आदि पितृगण भी उत्तम गति को प्राप्त हो गये, मेरा जन्म सफल हो गया। मैं आपको नमस्कार करके प्रार्थना करता हूँ कि मेरी रक्षा कीजिये।

आपके अतिरिक्त अब मैं किससे अपने उद्धार की प्रार्थना करूँ । आप सब देवों के देव हैं ।

भगवान् की इतनी स्तुति कर के शिलाद मुनि ऋषियों से कहने लगे कि हे मुनियो ! देखिये, मेरा कितना बड़ा भाग्य है कि साक्षात् भगवान् ने मेरे यज्ञाङ्गण में जन्म लिया है। मेरे समान संसार में न तो कोई देवता है और न कोई दानव ही । मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ ।

नन्दी को पाकर शिलाद बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें अपने साथ कुटी में लेगये । वहाँ पहुँचते ही नन्दीश्वर का आकार साधारण मनुष्य के समान हो गया और उनकी दिव्य स्मृति का भी लोप हो गया । यह देख शिलाद को परम दुःख हुआ । शिलाद ने नन्दीश्वर को साधारण शिशु के रूप में देख कर उनका जातकर्म-संस्कार किया । समय आने पर यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ । नन्दीश्वर ने थोड़े ही समय में साङ्गोपाङ्ग ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का यथावत् अभ्यास कर लिया । सात वर्ष समाप्त होने के पूर्व ही उन्होंने आयुर्वेद, धनुर्वेद, सङ्गीतशास्त्र, अश्वविद्या, गजविद्या आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था ।

एक समय मित्रावरुण शिलाद के तपोवन में पहुँचे और कहने लगे कि हे मुने ! हमें इस बात के कहने में बहुत दुःख होता है कि नन्दीश्वर इतने ज्ञानवान्, विद्वान् और बुद्धिमान् होते हुए भी बहुत अल्पायु हैं । अब केवल एक वर्ष इनकी आयु और अवशिष्ट है ।

इतना सुनते ही शिलाद के ऊपर वज्रपात सा हो गया। वे अचेतन होकर भूमि पर गिर पड़े और कातर स्वर में विलाप करने लगे। उनके करुण-क्रन्दन से समूचा अरण्य गूँज उठा। आस-पास के सभी तपस्वी दौड़ आये। यह वृत्तान्त सुन कर सब मुनि स्वस्त्ययन, मंगलपाठ और भगवान् उमापति की स्तुति करने लगे। कितने ही ऋषियों ने महामृत्युञ्जय-मन्त्र से दूर्वा की एक लक्ष आहुतियाँ दीं। नन्दीश्वर के कानों में भी यह बात पड़ गयी और वे स्वयं महामृत्युञ्जय-मन्त्र का जप तथा महादेवजी का अर्चन करने लगे।

इस प्रकार की गयी आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् शिव प्रकट हुए और नन्दी से कहने लगे कि हे वत्स! तुम तो मेरे अंशज हो, तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता। तुम्हारा यह शरीर वास्तव में लौकिक नहीं है। तुम्हारे दिव्य शरीर को शिलाद मुनि देख चुके हैं। देवता, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व और दानवों ने भी देखा है। इस लिये हे प्रियवत्स! तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करो।

इतना कह कर महेश्वर ने उनके ऊपर हाथ फेरा और अपनी कमलों की बनी हुई माला उनके गले में डाल दी। उस माला के पहनते ही वे द्वितीय शंकर के समान भासित होने लगे। शिव के सदृश अपना रूप देख कर नन्दीश्वर उनकी स्तुति करने लगे। इस स्तुति से शंकर भगवान् और भी प्रसन्न हुए और पार्वतीजी से बोले कि आज से मैं नन्दीश्वर को सब

गणों का स्वामी बनाये देता हूँ।

उस समय शिवजी के स्मरण करते ही असंख्य गण आकर उपस्थित हो गये। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देवता भी उस उत्सव में सम्मिलित हुए। शिवजी के कथन के अनुसार स्वयं ब्रह्माजी ने विधिविहित रीति से उनका अभिषेक किया और वे गणाधिपति बना दिये गये। तदनन्तर देवताओंने मरुत की कन्या सुयशा को सब भूषणों से विभूषित कर उत्तम वस्त्र पहिनाया और सुवर्ण के सिंहासन पर बैठाया। हजारों उत्तम २ दासी, छत्र, चामर आदि लिये उनकी सेवा में खड़ी भयीं। इस प्रकार सुयशा को मण्डित कर शिवजी की आज्ञा से नन्दीश्वर के साथ विवाह कर दिया। श्रीपार्वतीजी ने अपने कण्ठ से मोतियों का हार उतार सुयशा को पहिनाया और भगवान् शिवजी ने श्वेत वृष, श्वेत हस्ति, सिंह की ध्वजा, छत्र और स्वर्ण का रथ नन्दीश्वर को प्रदान किया। इस प्रकार नन्दीश्वर का अभिषेक तथा विवाह कर वृष के ऊपर चढ़ पार्वतीजी तथा बाधवों सहित नन्दीश्वर को साथ लिये श्री महादेवजी कैलास पर्वत को गये।

सान्वयं च गृहीत्वेशस्तथा संबंधिबांधवैः।
आरुह्य वृषमीशानो तया देव्या गतः शिवः॥

(लिं० पु० अ० ४४)

उनचासवाँ रत्न

विश्वामित्र

विख्यात महर्षि विश्वामित्रजी का जन्म राजकुल में हुआ था। वे गाधिराज के पुत्र थे। एक बार विश्वामित्र बहुत सी सेना लेकर वशिष्ठ के आश्रम में गये। वशिष्ठजी ने अपनी धेनु (नन्दिनी) की सहायता से राजा विश्वामित्र तथा उनके साथियों का (भोजन इत्यादि से) सम्मान किया। धेनु का यह प्रभाव देख कर विश्वामित्र ने वशिष्ठजी से उस धेनु की याचना की; परन्तु वशिष्ठ ने धेनु देने के लिये अपने को असमर्थ बताया और राजा विश्वामित्र ने बलपूर्वक उसे लेजाना चाहा।

वशिष्ठजी की आज्ञा से कामधेनु ने असंख्य सेना उत्पन्न की। जिससे विश्वामित्र परास्त होगये। तभी विश्वामित्रजी ने ब्रह्मबल को श्रेष्ठ समझा और अपने एक पुत्र को राज्य देकर ब्रह्मत्व-प्राप्ति के लिये तपस्या करने लगे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उन्हें राजर्षिपद दिया। उसी समय राजा त्रिशंकु पार्थिव-शरीर से स्वर्ग जाने की इच्छा करके एक यज्ञ करना चाहते थे। अतः वे वशिष्ठजी के यहाँ गये। उन्होंने यज्ञ कराना अस्वीकार किया। वहाँ से निराश होकर त्रिशंकु विश्वामित्र के यहाँ गये। विश्वामित्र त्रिशंकु को सश-

रीर स्वर्ग भेजने के लिये तैयार हुए। इसलिये विश्वामित्र और देवताओं में विवाद हुआ। इस प्रकार दक्षिण दिशा की ओर तपस्या में विघ्न समझ कर विश्वामित्र पश्चिम ओर जाकर तपस्या करने लगे। वहाँ भी शुनःशेफ के कारण अपने पुत्रों को शाप देना पड़ा। तदुपरान्त ब्रह्मा के वर से ऋषित्व पाकर ब्रह्मर्षि वनने के लिये वे कठिन तप करने लगे। इसी समय मेनका द्वारा तप में विघ्न हुआ। विश्वामित्रजी इस कार्य से दुःखी होकर वहाँ से चले आये और उत्तर दिशा में आकर हिमालय पर्वत और कौशिकी नदी के तट पर तपस्या करके आशुतोष भगवान् शिवजी को प्रसन्न कर उन्होंने ब्रह्मत्व-पद प्राप्त किया। ब्रह्मर्षि विश्वामित्रजी ने महाभारत में अपने मुखारविन्द से इसका वर्णन इस तरह किया है कि मैं पहले क्षत्रिय था, उस समय 'मैं ब्राह्मण होजाऊँ' इस इच्छा से शिवजी की आराधना की और उनकी कृपा से मैंने दुर्लभ ब्राह्मणत्व पाया था।

विश्वामित्रस्तदोवाच क्षत्रियोऽहं तदाऽभवम्।
ब्राह्मणोऽहं भवामीति मया चाराधितो भवः॥ १६॥
तत्प्रसादन्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत्॥ १७॥

(महा० अनु० पर्व अ० १८)

पचासवाँ रत्न

ऋषिवर्य्य बालखिल्य

वालखिल्य ऋषि स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे। इनकी माता का 'सन्नीति' नाम था। एक बार इन्द्र ने इनका अपमान किया था। पुरातन समय की बात है कि एक बार दक्ष प्रजापति ने विधिपूर्वक यज्ञ किया। उस यज्ञ की सहायता के लिये इन्द्रादि देवता, निर्मल चित्तवाले मुनि और राजर्षि आये। क्योंकि दक्ष ने उनको निमन्त्रण दिया था। वैसे ही यज्ञ के कर्म में चतुर, वेद को जाननेवाले ब्राह्मणों को भी निमन्त्रण दिया और वे भी आये। इसके अनन्तर समिधा के बोझ से विकल, प्रशंसित व्रतों के करनेवाले वालखिल्य मुनियों ने भी यज्ञ में प्रस्थान किया। मार्ग में मेघ की वर्षा से गोपद भर जल पूर्ण होने से मुनिगण उस पानी में डूबने लगे। इनको देख कर ऐश्वर्य के मद से गर्वित इन्द्रजी मुसकराये। इन्द्र को हँसते देख कर इनको क्रोध आगया और उनसे बदला लेने के लिये तपोवन में जाकर तप करने का विचार किया। प्राणी के प्रारब्ध * जब जैसे होते हैं, वैसे ही विचार उनके मन में आजाते हैं और वह प्राणी किसी भी निमित्त से वैसा करने को तत्पर

---

* जैसी हो भवितव्यता, वैसी मिलै सहाय।
आपु न आवे ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥ (तुलसी)

हो जाता है। तत्पर हो जाने पर उसके उपयुक्त साधन भी स्वयं मिलने लगते हैं। इस नियम के अनुसार वालखिल्य अपने प्रारब्धवश जगत्पिता भगवान् श्रीशंकर की शरण में जाकर ध्यान-मग्न हो तपस्या करने लगे। भगवान् भूतनाथ में भक्ति-भाव होना जीव के भावी विभूति का हेतु होता है। जो कि देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। मनुष्यों में तो कठिनता से या प्रभु की प्रेरणा से यह सम्भव हो सकता है।

जो लोग सब प्रकार से अनन्यगति होकर भगवान् स्वयम्भु की शरण लेते, वे अभय हो जाते हैं। उनको संसार से छुटकारा मिल जाता है। उन ऋषियों ने मनसा, वचसा और कर्मणा कुछ दिन इस तरह घोर तपस्या की। जिससे भक्त-वत्सल शिवजी ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया। *ऋषियों ने नेत्र खोलकर देखा तो सामने व्याघ्रचर्म पर स्थित, जटा में गंगा और मस्तक में वालचन्द्रमा को धारण किये, पंचमुख, नीलकण्ठ, त्रिलोचन, समस्त अंगों में विभूति रमाये, सर्प के कंकण और कण्ठहार धारण किये, नाग-वासुकी के यज्ञोपवीत धारण किये और हाथों में त्रिशूल और डमरू लिये, एक विचित्र स्वरूप दृष्टिगोचर हुआ। ऐसे दिव्य एवं अलौकिक स्वरूप को देखकर वालखिल्य मुनियों ने उनकी स्तुति की। शिवजी उनपर प्रसन्न होकर वोले—हे ऋषिगण! मैं तुम लोगों पर प्रसन्न हूँ।

---

* ऋषि वालखिल्य द्वारा स्थापित 'महेश्वर' शिवलिंग थानेश्वर अम्बाला Ambala जंक्शन से २६ मील की दूरी पर है।

मेरी कृपा से तुम स्वर्ग से अमृत लाने के वास्ते सुपर्ण (गरुड़) को उत्पन्न करोगे । बालखिल्य ऋषि कृतकार्य होकर प्रसन्न मन से अपने आश्रम को लौट गये और मनोरथ की सद्यः सिद्धि पाकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए ।

"सुपर्णं सोमहन्तारं तपसोत्पादयिष्यथ ॥"

(म० भा० अनु० प० १४ अ०)

इक्यावनवाँ रत्न

अष्टावक्रजी (असित-देवल)

ब्रह्मवेत्ता अष्टावक्रजी के पिता का नाम असित, और इनका नाम था देवल । ये गन्धमादन पर्वत पर तपस्या करते थे । एक दिन देवराज इन्द्रकी प्रेरणा से मुनिवर को कामदेव के समान सुन्दर देखकर स्वर्गीय अप्सरा रम्भा उपभोग करने की इच्छा से उनके समीप गयी । महर्षि के बहुत समझाने पर भी रम्भा अपने विचार से नहीं डिगी और उनको अनेक प्रकार के प्रलोभन दिखाकर प्रार्थना करने लगी । देवल इसकी बात पर कुछ ध्यान न देकर पूर्ववत् ध्यान लगाकर बैठ गये ।

रम्भा ने अपना अपमान समझकर देवल को शाप दिया कि हे वक्रविप्र ! तुम्हारा सुन्दर शरीर बक्र (कुबड़ा) और काला हो जाय । तुम रूप-यौवन-हीन हो जावो । धर्मको जाननेवाले

ब्रह्मचर्य-धर्म के ज्ञाता महर्षि तुच्छ कामके प्रलोभन में क्यों आने लगे*। वे जानते थे कि शिव के भक्तों का मूल (जड़) ब्रह्मचर्य ही है। †पशुपति (शिवजी) का व्रत करनेवाला पुरुष सौ वर्ष से जिस तप को करता हो, वह एक ही वार के स्त्रीसंग से नष्ट हो जाता है।

जो पुरुष स्त्री को भजता (चाहता) है उसका शिवव्रत व्यर्थ हो जाता और वह व्यतीत दश पीढ़ी को लेकर नरक में जाता है। शिवजी के भक्त को स्त्रियों के साथ सम्भाषण भी पाप का कारण वन जाता है। अतः मुनि देवल करुणा-वरुणालय शिवजी की शरण में गये। भगवान् प्रसन्न होकर बोले—हे देवल ! तुम शाप से मुक्त हो जावोगे। तुम्हारा धर्म, उत्तम यश, और आयुष्य पूर्ववत् हो जायगी।

"तन्मे धर्मं यशश्चाग्र्यमायुश्चैवाददत् प्रभुः ॥ १८ ॥"

(म० भा० अनु० पर्व अ० १८)

---

* अपि वर्षशतं साग्रं यत्तपः कुरुते व्रती।
सकृत् स्त्रीसङ्गमान्नाशं याति पाशुपतस्य च ॥ ८ ॥
यः स्त्रीं भजति पापात्मा वृथा पाशुपतं व्रतम्।
सोतीतान्दश चादाय पुरुषान्नरके पचेत् ॥ ९ ॥
आस्तां तावत्समासंगः संस्पर्शश्च वरानने।
सम्भाषणं च पापाय स्त्रीभिः पाशुपतस्य च ॥९॥ (ना०ब्रं०अ०४३)

† अष्टावक्र शिव हिमालय श्रीनगर में हैं।

बावनवाँ रत्न

महर्षि च्यवनजी

च्यवन ऋषि महर्षि भृगु के पुत्र थे। उन्होंने अपने जीवन का बड़ा भाग नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के साथ उग्र तप में बिताया था। परम पावनी वितस्ता नदी के सुरम्य तट पर आहार-विहार छोड़कर एक आसन से बैठ कर उन्होंने बहुत वर्षों तक कठिन तपस्या की थी। उनके शरीर पर बामी जम गयी और उसके ऊपर घास उग गयी थी। बहुत समय व्यतीत होने के कारण वह मिट्टी के टीले के समान प्रतीत होने लगा। दैव-वश उनकी चमकती हुई आँखों के आगे चींटियों ने छेदकर दिया था।

एक बार परम धर्मात्मा राजा शर्याति अपनी चार हज़ार रानियों तथा एकमात्र तनया सुकन्या को अपने साथ लेकर उसी वन में विहार करने गये। सुकन्या अपनी सहेलियों को साथ लेकर इधर-उधर घूमती हुई उसी बामी के सन्निकट जा पहुँची। वह बड़े कुतूहल के साथ उसे देखने लगी। देखते-देखते उसकी दृष्टि महर्षि च्यवन की आँखों पर जा पड़ी जो कि चींटियों के बनाये छिद्रों में से चमक रही थीं। सुकन्या ने परीक्षा के लिये एक काँटे से उन नेत्रों में छेद कर दिया। छेद करते हा उसमें से रक्त की धारा बह निकली।

इस महा अपराध के कारण शर्याति के सब सहचारियों का मूत्रावरोध (मूत्र की रुकावट) हो गया और समस्त सेना में हलचल मच गयी। राजा इस बात से बहुत दुःखित और कुपित हुए। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति से पूछा कि किसी ने कोई अपराध तो नहीं किया है ? तब सुकन्या ने अपने पिता को दुःखित देख कर मुनि की आँखें फोड़ने का सब वृत्तान्त कह सुनाया।

यह समाचार सुनते ही शर्याति दौड़े हुए उस बामी के समीप गये और बामी की मिट्टी हटवायी। उसकी : मिट्टी हटवाते ही महर्षि च्यवन दिखायी पड़े। उन्हें देखा तो साष्टांग प्रमाण कर कहने लगे कि हे महाराज! इस बालिका ने अज्ञान से आपको दारुण कष्ट पहुँचाया है। इसके लिये आप क्षमा करें। इस कन्या को मैं आपकी सेवामें अर्पण करता हूँ। इसे आप भार्या के रूप में स्वीकार करें। यह प्रेम से आपकी सेवा करेगी। परम दयालु महर्षि च्यवन ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपराध क्षमा कर दिया। राजा तो अपनी राजधानी को चले गये और सुकन्या अनन्य मन से महर्षि की सेवा में लग गयी।

एक बार अश्विनीकुमार उस आश्रम में आये। सुकन्या के पातिव्रत-धर्म से प्रसन्न होकर उन्होंने महर्षि को परम मनोहर यौवन-सम्पन्न रूप दे दिया। यौवन और सुन्दर रूप पाकर च्यवन ऋषि परम आनन्दित हुए और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि

"मैं देवों के वैद्य अश्विनीकुमारों को यज्ञ में भाग दिलाकर मानूँगा और सोमरस पिलाकर ही छोड़ूँगा।" इस बात से इन्द्र बहुत असन्तुष्ट (नाराज) हुए और कहने लगे कि अश्विनी-कुमार वैद्य हैं। वैद्य की वृत्ति निन्दनीय होती है। अतः वे यज्ञ-भाग के अधिकारी कभी नहीं हो सकते। यदि तुम उन्हें सोमरस पिलाने का प्रयत्न करोगे तो मैं तुम्हें वज्र से मार डालूँगा।

देवराज इन्द्र की ऐसी बातें सुनकर च्यवनऋषि ने विचार किया कि जिन महेश के इन्द्र, वरुण आदि देवता नौकर-चाकर हैं, जिनकी आज्ञा से वे सदा काम करते हैं, जो सृष्टि, संरक्षण और संहार में सर्वथा समर्थ हैं, मुझे उन्हींकी आराधना करनी चाहिये। इसीसे अभीष्ट सिद्धि होगी। ऐसा निश्चय करके महर्षि च्यवन * महाकाल वन में गये। वहाँ शिवलिंग की स्थापना कर भगवान् का पूजन करने लगे। उनकी हठ देखकर इन्द्र कुपित हुए और उनको मारने के लिये वज्र चलाया; पर भगवान् शङ्कर ने पहले ही से इन्हें अभय कर दिया था। इसलिये इन्द्र की बाहु का स्तम्भन (रुकावट) हो गया और च्यवनऋषि के ऊपर वज्र चल ही नहीं सका।

इसी बीच में उस लिंग में से एक ज्योति निकली, जिसकी ज्वाला से त्रैलोक्य जलने लगा। उससे सब देवता सन्तप्त हो गये और उनकी आँखें धुएँ से अंधी हो गयीं। वे सब चिल्लाकर

* 'महाकाल वन' और 'अवन्तिका' उज्जैन को कहते हैं।

इन्द्र से अश्विनीकुमारों को यज्ञभागी बनाने की प्रार्थना करने लगे। देवों के कहने पर इन्द्र ने मारे डर के च्यवनऋषि को प्रणाम करते हुए कहा कि हे महर्षे! आज से अश्विनीकुमारों को यज्ञ का भाग मिलेगा और वे सोमपान भी कर सकेंगे। इस शिवलिङ्ग का नाम अबसे च्यवनेश्वर होगा और उनके दर्शन से क्षण भर में जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट हो जायँगे। मन की दुर्लभ कामनायें भी इन की आराधना से पूर्ण हो जायँगी। इतना कहकर इन्द्र सब देवोँ को साथ लेकर स्वर्ग को चले गये। तभी से अश्विनीकुमारोँ को यज्ञ में भाग मिलने लगा।

स्कन्दपुराण के *आवन्त्यखण्ड में श्रीच्यवनेश्वर महादेव का माहात्म्य इस प्रकार लिखा है:—

"भक्ता ये पूजयिष्यन्ति अथैनं च्यवनेश्वरम् ।
आजन्मप्रभवं पापं तेषां नश्यति तत्क्षणात् ॥५१॥
यं यं काममभिध्यायेन्मनसाभिमतं नरः ।
तं तं दुर्लभमाप्नोति च्यवनेश्वरदर्शनात् ॥ ५२ ॥"

(अ० च० लिं० मा० ३० अ०)
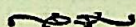
* अवन्ति (उज्जैन)।

तिरपनवाँ रत्न

महर्षि दधीचिजी

मुनीन्द्र दधीचि और राजा क्षुप में बड़ी घनिष्ठ मित्रता थी। उन दोनों का खान-पान, उठना-बैठना सदा एक साथ हुआ करता था। एक बार दैववश दोनों में झगड़ा होगया। दधीचि कहते थे कि ब्राह्मण उत्तम होते हैं और क्षुप कहते थे कि नहीं क्षत्रिय, उत्तम हैं। क्षुप का कहना था कि राजा आठों दिक्-पालों के अंश से उत्पन्न होता है, इस लिये मैं ही इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, सोम और कुबेर हूँ। मैं ही साक्षात् परमेश्वर हूँ, मुझ से बढ़कर संसार में और कौन हो सकता है? हे दधीचि! मैं पूज्य हूँ, इस लिये तुम मेरी पूजा किया करो।

एक क्षत्रिय के ऐसे अभिमान भरे वचन सुन कर परम तेजस्वी दधीचि मुनि को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने बायें हाथ से क्षुप के सिर में एक घूँसा मारा। राजा क्षुप इस प्रहार से बहुत कुपित हुए और उन्होंने दधीचि को वज्र से मारा। उस वज्र के प्रहार से दधीचि पृथ्वी पर गिर पड़े और आर्त होकर विलाप करने लगे। तब उन्हों ने शुक्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही शुक्र आकर उपस्थित हो गये और मृतसंजीवनी विद्या के द्वारा उनका शरीर पहिले के ऐसा ही सुन्दर कर दिया।

दधीचि के स्वस्थ हो जाने के अनन्तर शुक्र ने कहा कि हे मुने ! मैंने भगवान् उमापति की आराधना करके मृतसंजीवनी विद्या प्राप्त की है और भगवान् शम्भु के भक्तों को मृत्यु से भी भय नहीं होता। इस लिये आप उन्हीं की आराधना करके अजर-अमर बन जाइये। उनकी सेवा करने से संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो न प्राप्त हो सके। महामृत्युञ्जय महादेव के पूजन से मृत्यु का भी भय नहीं रह जाता।

शुक्र के कथनानुसार दधीचि मुनि ने अत्युग्र तपस्या कर शङ्कर भगवान् को संतुष्ट .कर लिया और उनकी कृपा से उनकी सभी हड्डियाँ वज्र के समान कठोर हो गयीं। इसी के साथ साथ अवध्यत्व और अदीनत्व वर भी उन्होंने प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार देवेश की आराधना करके दधीचि ने राजेन्द्र क्षुप को पैरों से खूब मारा। उन्होंने भी अपने वज्र से दधीचि की छाती में प्रहार किया; परन्तु वज्रास्थि होने के कारण उस प्रहार का उन पर कुछ भी असर नहीं हुआ। भगवान् की कृपा से उस वज्र का प्रहार उनको पुष्प-प्रहार सा प्रतीत हुआ।

अपने अव्यर्थ वज्र के प्रहार को निष्फल होता देख कर राजा क्षुप बहुत चिन्तित हुए और दधीचि से बदला लेने के लिये भगवान् मुकुन्द की आराधना करने लगे। चिरकाल तक कठिन तप करने पर वे प्रसन्न हुए और शंख, चक्र, गदा, पद्म.

धारण किये हुए वनमाला से सुशोभित भगवान् विष्णु गरुड़ पर चढ़ कर राजा क्षुप के सामने आये।

भगवान् की सौम्य मूर्ति को देखकर वे भक्तिपूर्ण हृदय से स्तुति करते हुए रो रो कर कहने लगे कि हे देवदेव! हे जगन्निवास! हे शरणागतपरिपालक! दधीचि ने पैरों से ठुकरा कर मेरा बड़ा अपमान किया है। वे पहले तो मेरे मित्र थे; पर अब शत्रु हो गये हैं। उन्हें इतना अभिमान हो गया है कि वे किसी से भी नहीं डरते। वे अब अपने को अवध्य एवं अजेय समझने लगे हैं। हे महाराज! मैं उनसे बदला लेना चाहता हूँ। आप ऐसी कृपा कीजिये कि मैं उन्हें नीचा दिखा सकूँ।

सर्वज्ञ भगवान् विष्णु ने महात्मा दधीचि के अवध्यत्व पर विचार कर तथा महेश के अतुल प्रभाव को सोच कर राजा क्षुप से कहा कि हे राजेन्द्र! रुद्र का भक्त यदि नीच भी हो तो उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता, ब्राह्मण यदि शिव का भक्त हो जाय तो उसे भय की आशङ्का नहीं हो सकती। परम शैव दधीचि मुनीन्द्र का तो कहना ही क्या, वे एक असाधारण शिवभक्त हैं। इस लिए दधीचि को हराना तुम्हारा शक्ति के बाहर की बात है। युद्ध में तुम उनको किसी प्रकार पराजित नहीं कर सकते। परन्तु तुमने मेरी आराधना की है, इसलिये मैं प्रयत्न करूँगा कि किसी प्रकार उनका पराजय हो।

ऐसा कह कर भगवान् विष्णु ब्राह्मण का रूप धारण कर दधीचि ऋषि के आश्रम में गये और विनीत भाव से दधीचि

को प्रणाम करके कहने लगे कि हे महाराज ! मैं आप से एक वर माँगता हूँ। आप शिवजी के परम भक्त हैं। अतएव आप को मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकार करनी चाहिये। महर्षि दधीचि विष्णु भगवान् की इस माया को समझ गये और उन्होंने कहा कि हे जनार्दन ! मैं आपका अभिप्राय समझ गया। मैंने जान लिया कि आप विष्णु हैं और ब्राह्मण का रूप धारण कर यहाँ आये हैं। राजा क्षुप ने तप करके आपको प्रसन्न कर लिया है, उसी की कामनापूर्ति के लिये आप मेरे पास पधारे हैं। हे मुरारे ! मैं आपकी भक्तवत्सलता को अच्छी प्रकार समझता हूँ। भगवान् शंकर की कृपा से मुझे भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी बातें अच्छी तरह ज्ञात हो जाती हैं। अतः हे पूज्य भगवन् ! इस विप्रवेष का त्याग कर आप अपना असली रूप धारण कीजिये। हे महाराज ! मैं सच्ची बात कहता हूँ और महादेवजी पर भरोसा कर के संसार में सुर-असुर किसी से भी नहीं डरता।

दधीचि के ऐसे वचन सुन कर विष्णु ने विप्र का वेष त्याग दिया और असली रूप धारण कर मुस्कराते हुए बोले कि हे दधीचि ! मुझे अच्छी तरह ज्ञात है कि आप शिवभक्त हैं, सर्वज्ञ हैं। इससे आपको संसार में किसी से भय नहीं है; पर मेरे कहने से आप एक वार राजा क्षुप से यह कह दीजिये कि मैं तुम से डरता हूँ। मुझे आशा है कि आप मेरी इस छोटी सी बात को अवश्य मान लेंगे।

भगवान् के ऐसे विनीत वचन सुनकर भी दधीचि ने कहा कि मैं किसी से नहीं डरता, किसी के सामने विनीत और भीत वचन नहीं कह सकता। मैं त्रैलोक्यपति सर्वसुखप्रद भगवान् शङ्करका भक्त हूँ, मेरे मुख से ऐसे वचन नहीं निकल सकते।

दधीचि के ऐसे अभिमानपूर्ण वचन सुन कर भगवान् विष्णु को क्रोध आ गया और दधीचि को मारने के लिये उन्होंने अपना अकुण्ठित चक्र चलाया; पर वह चक्र भी मुनि पर कुण्ठित हो गया। चक्र को व्यर्थ होते देख दधीचि हँस कर बोले कि आप ने यह दारुण सुदर्शन चक्र बड़े प्रयत्न से चलाया था; पर यह मुझे मार नहीं सका। आप मेरे ऊपर ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि जो चाहिये, वह अस्त्र-शस्त्र चला कर देख लीजिये। कदाचित् आप की अभिलाषा पूरी हो जाय।

अपने चक्र को निर्वीर्य होते देखकर विष्णु भगवान् ने उनके ऊपर अनेक अस्त्र-शस्त्र छोड़े। सब देवता भी विष्णु की सहायता के लिये आ गये और उन अकेले ब्राह्मण के ऊपर अपने-अपने आयुध छोड़ने लगे। दधीचि ने शंकर भगवान् का स्मरण कर एक मुट्ठी कुश उठा लिया और देवों के ऊपर फैंक दिया। उन कुशों का परम भीषण कालाग्नि सदृश त्रिशूल बन गया और वह सब देवों को भस्म करने लगा। देवों द्वारा चलाये हुए सभी अस्त्र-शस्त्र उस त्रिशूल को नमस्कार करने लगे और सब देवता प्राण लेकर वहाँ से भागे।

विष्णु ने अपने शरीर से ऐसे लाखों पुरुष उत्पन्न किये; पर उन सबको उस त्रिशूल ने क्षण भर में भस्म कर डाला। तब विष्णु भगवान् ने अपना विराट्रूप धारण किया। दधीचि ने उनके शरीर में असंख्य देवता, करोड़ों रुद्र और करोड़ों ब्रह्माण्ड देखे। पर दधीचि महर्षि ने अपने कमण्डलु के जल से अभ्युक्षण कर उस विराट् रूपको शान्त कर दिया और स्वयं विराट् रूप धारण करके विष्णु को अपने शरीर में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि सभी देव दिखाते हुए कहने लगे कि हे विष्णो! इस प्रकार की माया दिखाने से क्या होने का? ऐसी माया तो मैं स्वयं दिखा सकता हूँ। यदि युद्ध करना हो तो इस माया का परित्याग कर वीरता के साथ युद्ध कीजिये। वीरता के साथ युद्ध करने में ही जय और पराजय का पता चल सकता है।

महर्षि के कथन पर ब्रह्माजी ने विष्णु को युद्ध करने से रोक दिया और वे उन मुनि को प्रणाम कर चले गये। राजा क्षुप बहुत दुःखित हुए और पूज्य महर्षि दधीचि को प्रणाम कर कहने लगे कि हे महर्षे! मेरा अपराध क्षमा कीजिये। मैंने अज्ञान से आप के साथ दुर्व्यवहार किया और आपका प्रताप नहीं जाना। अब मुझे विश्वास होगया कि शिवभक्त का संसार में कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। आप शिवभक्त हैं, आप के साथ वैर कर मैंने बड़ी भूल की है। हे महाराज! मेरा अपराध क्षमा कीजिये।

ब्राह्मणों का हृदय कोमल तो होता ही है, इतनी प्रार्थना करने से महर्षि दधीचि प्रसन्न हो गये और उन्होंने उनका अपराध क्षमा कर दिया। तभी से उस स्थान का नाम *स्थानेश्वर पड़ गया और वह परम पावन तीर्थ माना जाने लगा। स्थानेश्वर तीर्थ में पहुँच जाने ही से शिवसायुज्यमुक्ति प्राप्त होती है। लिङ्गपुराण में लिखा है कि:—

"तदेव तीर्थमभवत् स्थानेश्वरमिति स्मृतम्।
स्थानेश्वरमनुप्राप्य शिवसायुज्यमाप्नुयात् ॥ ७७ ॥"

(लिं० पु० पू० ३८ अ०)

चौवनवाँ रत्न

शिवभक्त विश्वानर मुनि

नर्मदा नदी के किनारे नर्मपुर में "विश्वानर मुनि" नामक एक पुण्यात्मा शिवभक्त रहते थे। वे सदा ब्रह्मचर्य्याश्रम में स्थित रहते हुए वेदपाठ द्वारा अध्ययनरूपी यज्ञ में निरत रहते थे। ब्रह्मतेज से युक्त, श्रुति-स्मृति तथा शास्त्र-पुराणों के अर्थों का अनुशीलन करनेवाले महर्षि विश्वानर महेश्वर का ध्यान करके एक बार विचार करने लगे कि चारों आश्रमों में सत्पु-

* स्थानेश्वर शिव कुरुक्षेत्र जिला अम्बाले में हैं।

रुषों के कल्याण के लिये कौन सा आश्रम उत्तम और हितकर है। अन्त में उन्होंने यह निश्चय किया कि 'गृहस्थाश्रम' ही सब आश्रमों का मूलाधार है। अतः गुणागुण का विचार कर योग्य कुल में एक ब्राह्मण-कन्या के साथ अपना विवाह करके, गार्हस्थ्य धर्म में लग गये। वे दोनों दम्पती देव-देवी-पूजन, पितृ-श्राद्ध, पंच-महायज्ञ और नित्य-नैमित्तिक कर्मों को बड़े उत्साह से करने लगे। उन्हें परमात्मा ने सब सुख दिया था; पर स्वर्ग के साधक किसी पुत्र को उत्पन्न होते न देखकर एक बार उनकी धर्मपरायणा स्त्री पतिदेव को प्रणाम करके बोली—'हे प्राणनाथ, आपके चरणकमलों के पूजन से मुझे संसार में कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है। मुझे सब सुख है, आपकी कृपा से कोई कमी नहीं हैं। केवल एक प्रार्थना करना चाहती हूँ, यदि आज्ञा हो तो निवेदन करूँ।'

विश्वानर मुनि बोले—हे प्रिये! तुम हमारी प्राणप्रिया हो, तुम्हारे लिये मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है, तुम्हारी जो इच्छा हो, माँगो। भगवान् शंकर की कृपा से मुझको कुछ दुर्लभ नहीं है। पति का ऐसा वचन सुनकर उनकी पत्नी प्रसन्न हुई। और बोली—हे नाथ! यदि मैं वर के योग्य हूँ तो हे महेशभक्त! आप मुझे शिव के समान पुत्र दीजिये।

इस प्रकार भार्या की इच्छा जानकर विश्वानर मुनि मन में विचारने लगे कि आश्चर्य है, इस स्त्री ने जो वर माँगा, है वह बहुत ही दुर्लभ मनोर्थ है। तदनन्तर

समाधिस्थ मन से भगवान् शंकर का ध्यान करके जाना कि शम्भु ने वाक् इन्द्रियों के रूप से मेरे मुख में स्थित होकर जो कहा है, उसे अन्यथा करने को कोई समर्थ नहीं है यह अवश्य होवेगा। ऐसा निश्चय कर पत्नी को आश्वासन दिया और विहँस कर मधुर वचन बोले कि हे प्रिये! तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी।

इस प्रकार भार्या को धीरज देकर विश्वानर मुनि स्वयं तपस्या करने को उस विमुक्तपुरी में गये, जहां सुर-नर-मुनि-दुर्लभ, संसार के आदि कारण, जगत्पिता श्रीविश्वनाथजी तथा जगज्जननी भगवती श्रीअन्नपूर्णाजी विराजमान हैं। वहाँ मणि-कर्णिका में स्नान कर, देवी-देवताओं का दर्शन पूजन कर विचार करने लगे कि काशी में तिल भर भी कोई स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ भगवान् शंकर का लिंग न हो। उनमें किस लिंग-रूप महादेव की पूजा करने से शीघ्र ही मेरे सन्तान हो। क्षण भर सोचकर उन्होंने मन में यह दृढ़ निश्चय किया कि आशुतोष 'वीरेश्वर' नामक शिवलिंग ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पदार्थों को देनेवाला है। क्योंकि अनेक यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, कोकिला, अप्सरा, वेदशिरा नामक ऋषि, शिवभक्त चन्द्रमौलि, भारद्वाज आदि ऋषि श्रीशंकरजी का पूजन करके ही उनमें लीन होगये और उनकी कृपा से अपने २ मनोरथों को पाकर कृतकृत्य हुए थे। और भी अनेक शिवभक्त उनकी आराधना से सिद्ध हो चुके हैं। ऐसा जानकर विश्वानर मुनि ने भी संयम-नियम से शिव-

जी का पूजन और ध्यान करना प्रारम्भ किया। फलाहार द्वारा जीवन बिताते हुए उन्हों ने अनेक व्रत किये। कभी दूध पीकर, कभो केवल हवा पोकर और कभी उपवास हो रहकर शिवव्रत में निरत रहने लगे। इस प्रकार जब बारह मास बीत गये और तेरहवें मास का प्रारम्भ हुआ अर्थात् दूसरा वर्ष लगते ही एक दिन प्रातःकाल विश्वानरजी गंगास्नान करके 'वीरेश्वर' महादेव के समीप ज्यों ही पहुँचे, त्यों ही क्या देखते हैं कि शिवलिंग के बीचमें भस्म रमाये एक आठ वर्ष का बालक बैठा है, जिसकी दोनों आँखें कमल के समान सुन्दर और कर्ण पर्यन्त फैली थीं, लाल ओठ था, सुन्दर और सुवर्ण सी पीली जटा शिर पर शोभायमान थी। वह मुख मन्द २ मुसकान से मानों करोड़ों चन्द्रमा को लज्जित कर रहा था, बालोपयुक्त भूषणों से विभूषित, वेदसूक्त को पढ़ते हुए अपनी अलौकिक लीलाओं से सिद्ध-मुनियों के मन को भी हरते हुए उस योगी बालकरूपधारी शिव का दर्शन कर विश्वानर मुनि इस प्रकार सुन्दर शब्दों में उनकी स्तुति करने लगे:-

विश्वानर उवाच

एकं ब्रह्मैवाद्वितयं समस्तं सत्यं
सत्यं नेह नानास्ति किञ्चित् ।
एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे

तस्मादेकं त्वां प्रपद्ये महेशम् ॥१२६॥(१)

एकः कर्ता त्वं हि सर्वस्य शम्भो

नानारूपेष्वेकरूपोऽस्य रूपः ।

यद्वत्प्रत्यप्स्वर्क एकोप्यनेक-

स्तस्मान्नान्यं त्वां विनेशं प्रपद्ये ॥ १२७ ॥(२)

रज्जौ सर्पः शुक्तिकायाञ्च रूप्यं

नैरः पूरस्तन्मृगाख्ये मरीचौ ।

यद्वत्तद्वद्विष्वगेष प्रपञ्चो-

यस्मिन् ज्ञाते तं प्रपद्ये महेशम् ॥ ३ ॥

तोये शैत्यं दाहकत्वञ्च वह्नौ

तापो भानौ शीतभानौ प्रसादः ।

पुष्पे गन्धो दुग्धमध्येऽपि सर्पि-

र्यत्तच्छम्भो त्वं ततस्त्वां प्रपद्ये ॥ ४ ॥

शब्दं गृह्णास्यश्रवास्त्वं हि जिघ्रस्य-

घ्राणस्त्वं व्यङ्घ्रिरायासि दूरात् ।

व्यक्तः पश्येस्त्वं रसज्ञोप्यजिह्वः

कस्त्वां सम्यग्वेत्त्यतस्त्वां प्रपद्ये ॥ ५ ॥

नो वेद त्वामीश साक्षाद्धि वेदः

नो वा विष्णुर्नो विधाताऽखिलस्य ।
नो योगीन्द्रा नेन्द्रमुख्याश्च देवा
भक्तो वेद त्वामतस्त्वां प्रपद्ये ॥ ६ ॥
नो ते गोत्रं नेश जन्मापि नाख्या
नो वा रूपं नैव शीलं न देशः ।
इत्थंभूतोपीश्वरस्त्वं त्रिलोक्याः
सर्वान् कामान् पूरयेस्तद्भजे त्वाम् ॥ ७ ॥
त्वत्तः सर्वं त्वं हि सर्वं स्मरारे
त्वं गौरीशस्त्वञ्च नग्नोऽतिशान्तः ।
त्वं वै वृद्धस्त्वं युवा त्वञ्च बाल-
स्तत्त्वं यत्किन्नास्यतस्त्वां नतोस्मि ॥ ८ ॥
स्तुत्वेति भूमौ निपपात विप्रः स दण्डवद्यावदतीव हृष्टः ।
तावत्स बालोऽखिलवृद्धवृद्धः प्रोवाच भूदेव वरं वृणीहि ॥९॥
तत उत्थाय हृष्टात्मा मुनिर्विश्वानरः कृती ।
प्रत्यब्रवीत्किमज्ञातं सर्वज्ञस्य तव प्रभो ॥ १० ॥
सर्वान्तरात्मा भगवान् सर्वः सर्वप्रदो भवान् ।
याञ्चां प्रति नियुङ्क्ते मां किमीशो दैन्यकारिणम् ॥ ११ ॥

विश्वानर ने कहा— भेदरहित एक ब्रह्म ही सब

कुछ हैं, यह संसार कुछ नहीं है। संसार के दुःख नाशक केवल रुद्र * हैं। इससे मैं उन महेश को ही भजता हूँ॥१॥ हे शम्भो! तुम सबके कर्त्ता हो, जैसे एक सूर्य्य का प्रतिबिम्ब जलों में अनेक दीखता है। वैसे रूपरहित भी तुम अनेक (नाना) रूपों में हो। इससे आपके बिना और किसी को मैं नहीं भजता हूँ॥२॥ जिन परमेश्वर के जानते ही यह सब प्रपञ्च (जगत्) मिथ्या प्रतीत होता है। जैसे रस्सी में सर्प, सीप में चाँदी और मरुभूमि में मृगतृष्णा यह सब आरोपित असत्य है। इसी से मैं उन महेश को भजता हूँ॥३॥ हे शम्भो! जिससे जल में शीतलता, आग में उष्णता, सूर्य्य में ताप, चन्द्रमा में आह्लाद (प्रसन्नता), फूलों में सुगन्ध और दूध में घी है, वह सब आप हो। इससे मैं आपको भजता हूँ॥४॥ बिना कान के तुम शब्द सुनते हो, नासिका के बिना सूंघते हो, पाद (पैर) रहित होकर भी गमन (चलते) करते हो, बिना नेत्र के देखते हो, बिना रसना (जीभ) के रसों के जाननेवाले हो, इससे मैं आपको भजता हूँ। इन्द्रियों के देवता और इन्द्रियों के स्थान, इन तीनों के होने से इन्द्रियों का काम होता है। जैसे चक्षुगोलक न हो तो चक्षुइन्द्रिय कहाँ रहे और सूर्य्य न हों तो आँख में देखने की शक्ति न हो। ऐसे आप में चौदहों त्रिपुटियों का काम नहीं है। आपतो सदा दिव्य

---

* यह शिव काशी में संकटाघाट पर हैं और वीरेश्वर नाम से विख्यात हैं।

इन्द्रियवाले हो ॥ ५ ॥ हे ईश्वर! साक्षात् वेद भी आपको नहीं जानते, न ब्रह्मा, न योगीश्वर न इन्द्रादि देवता, कोई नहीं जानते केवल आपके भक्तजन आपको जानते हैं। इससे मैं आपको भजता हूँ ॥ ६ ॥ आपके गोत्र, जन्म, नाम, रूप शील और देश नहीं हैं। ऐसे होते हुए भी हे ईश्वर! आप सबकी मनोकामना पूर्ण करते हो। इससे मैं आपको भजता हूँ ॥ ७ ॥ हे कामारि! आपसे सब जगत् है, सब कुछ आपही हो। आप पार्वती के पति दिगम्बर, शान्तस्वरूप, वृद्ध, (बूढ़े) युवा (जवान) और बालक हो। जो कुछ वस्तुतः है, वह सब आपही हो। इससे मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥ इस तरह स्तुति कर अति आनन्दित वह ब्राह्मण दण्ड के समान भूमि में गिर गया। तब बूढ़ों से बूढ़े बालक से बालक दयालु शिवजी बोले कि हे ब्राह्मण! वर माँगो ॥ ९ ॥ इसके उपरान्त उठकर प्रसन्न मन उन पुण्यात्मा विश्वानर मुनि ने प्रार्थना की कि हे प्रभो! आप सर्वज्ञ क्या नहीं जानते हो ॥ १० ॥ आप सबके साक्षी, सर्वरूप, सबके फलदाता, ऐश्वर्यसम्पन्न और समर्थ होकर मुझको दीनता करनेवाली याचना में लगाते हो ॥ ११ ॥ इस प्रकार पवित्र व्रत-धारी विश्वानर का वचन सुनकर वह बालकरूपधारी शिवजी हँस-कर बोले—हे पवित्र वैश्वानर! तुमने शुचिस्मिता में पुत्र होने की अभिलाषा की है। वह बहुत शीघ्र ही पूर्ण होगा। हे महा-मते! शुचिस्मिता स्त्री में मैं स्वयं तुम्हारा पुत्र होकर जन्म लूंगा। गृहपति नाम से प्रसिद्ध तथा देवताओं का प्रिय होगा।

यह अभिलाषाष्टक नामक स्तोत्र एक वर्ष तक तीनों काल पढ़ने से शिव के समीप से सब मनोऽर्थ प्राप्त होता है। इस प्रकार वरदान देकर बालकरूपधारी, सत्पुरुषों को गति देनेवाले शिवजी अन्तर्धान हो गये ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वान्तर्दधे शम्भुर्बालरूपः सतां गतिः ।
सोऽपि विश्वानरो विप्रो हृष्टात्मा स्वगृहं ययौ ॥ ६४ ॥
(शि० रु० सं० ३ अ० १४)
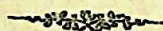
हे दीनबन्धु दयालु शंकर जानि जन अपनाइये। भवधार पार उतार मोकों निज समीप बसाइये ॥ जाने अजाने पाप मेरे आप तिनहिं नसाइये। करजोर जोर निहोर मागौं बेगि दरस दिखाइये ॥ देवीसहाय सुनाय शिव को प्रेम सहित जे गावहीं। जगयोनि से छुटि जायँ ते नर सदा अति सुख पावहीं ॥

वार बार बिनती करों, धरौं चरण पर माथ।
निजपद भक्ति भाव मोहि, देहु उमापतिनाथ ॥
गुरुचरणन शिरनाय के, बिनवत दोउ करजोर।
शिवशङ्कर के चरणमें, लगो रहे मन मोर ॥

गौरीशाष्टकम्

भज गौरीशं, भज गौरीशं, गौरीशं भज मन्दमते ।
जडभव-दुस्तर-जलधि-सुतरणं, ध्येयं चित्ते शिव-हर-चरणम् ॥
अन्योपायं न हि न हि सत्यं, गेयं शंकर शंकरनित्यम् ॥ भज० ॥
दारापत्यं क्षेत्रं वित्तं, देहगेहं सर्वमनित्यम् ।
इति परिभावय सर्वासारं गर्भविकृत्या स्वप्नविचारम् ॥ भज० ॥
मलवैचित्ये पुनरावृत्तिः पुनरपि जननी-जठरोत्पत्तिः ।
पुनरप्याशाकुलितं जठरं किं न हि मुञ्चसि कथय मे चित्तम् ॥
मायाकल्पितमैन्द्रं जालं, न हि तत्सत्यं दृष्टिविकारम् ।
ज्ञाते तत्त्वे सर्वमसारं, मा कुरु मा कुरु विषयविचारम् ॥
रज्जौ सर्पभ्रमणारोपस्तद्वद्ब्रह्मणि जगदारोपः ।
मिथ्या मायामोहविचारं मनसि विचारय वारंवारम् ॥ भज० ॥
अध्वरकोटीगंगागमनं, कुरुते योगं चेन्द्रियदमनम् ।
ज्ञानविहीने सर्वमतेन न भवति मुक्तिर्जन्मशतेन ॥ भज० ॥
सोऽहं हंसो ब्रह्मैवाहं, शुद्धानंदस्तत्त्वपरोऽहम् ।
अद्वैतोऽहं संगविहीने, चेन्द्रिय आत्मनि निखिले लीने ॥ भज० ॥
शंकरकिंकर मां कुरु चिन्तां, चिन्तामणिना विरचितमेतत् ।
यः सद्भक्त्या पठति हि नित्यं, ब्रह्मणि लीनो भवति हि सत्यम् ॥ भज० ॥

(शिव–मनोरञ्जनी)